प्रकाशक—

नानूलाल जैन,

संचालक

साहित्य उद्यान कार्यालय, लाखनकोटड़ी

अजमेर, राजपूताना।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुर्जर,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस

बनारस सिटी। १३९९—२५

समर्पण

जिनकी मैत्री को मैं पूर्व जन्म के
सुकृत का फल समझता हूँ।
उन्हीं मेरे बाल अभिन्न
हृदय मित्र

श्रीयुत माणिकचन्द्र रतनचन्द्र सोनी

को यह प्रेमोपहार
सादर
समर्पित है

चन्द्रराज भण्डारी
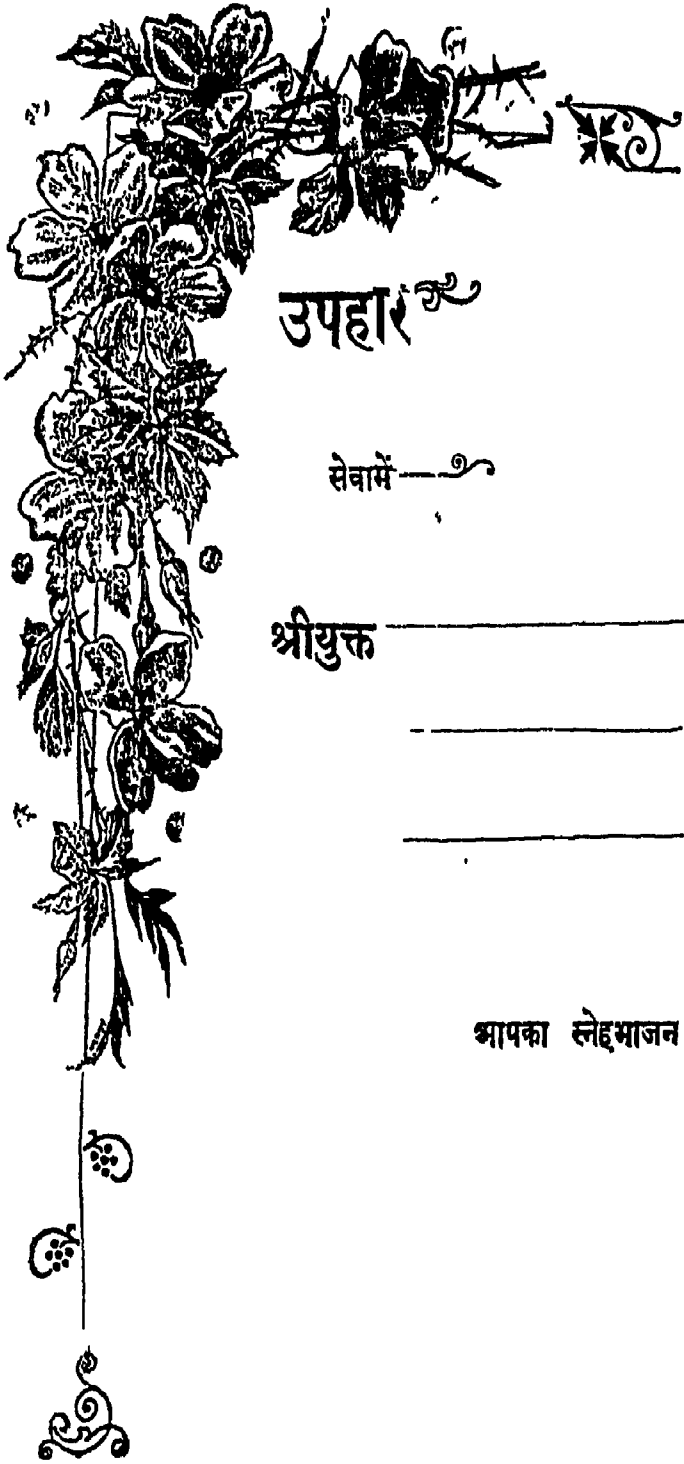
उपहार
सेवामें
श्रीयुक्त
आपका स्नेहभाजन

भूमिका।

किसी भी देश की सभ्यता का अनुमान वहाँ की सम्पत्ति, ऐश्वर्य्य, जनसंख्या व चहल पहल से नहीं हो सकता। ये साधन वहाँ की बाह्य सभ्यता के उपकरण हो सकते हैं पर इनसे सभ्यता की श्रेणी का माप नहीं किया जा सकता। सभ्यता या संस्कृति के मूल तत्व समाज के अन्तर्जगत् में छिपे रहते हैं। वहीं से उनका विकास होता है और तत्पश्चात् इन बाह्य उपकरणों की सृष्टि होती है।

कोई भी देश इन बाह्य उपकरणों के अभाव से कभी गुलाम नहीं हो सकता। कोई भी जाति सम्पत्ति या ऐश्वर्य्य की कमी से कभी नष्ट नहीं हो सकती। देशों के गुलाम होने और जातियों के नष्ट होने के मूल कारण समाज के अन्तर्जगत् में क्रान्ति होने से पैदा होते हैं। जिस प्रकार शरीर पर प्रगट हुई किसी व्याधि का मूल कारण शरीर के भीतरी भाग से सम्बन्ध रखता है उसी प्रकार समाज में प्रगट हुई विश्रृंखलता का मूल कारण भी समाज के मानसिक जगत् में स्थित रहता है। समाज के अन्तर्जगत् में यदि किसी प्रकार का विकार

न हुआ, यदि उसकी शारीरिक क्रिया ठीक तरह से चलती रही तो ऐसी हालत में सम्पत्ति और ऐश्वर्य्य का अभाव प्रथम तो हो ही नहीं सकता यदि हुआ भी तो वह चिरस्थायी नहीं रह सकता।

व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध जब तक अपने एक नियमित स्वरूप में रहता है तब तक समाज-शरीर में किसी प्रकार की व्याधि खड़ी नहीं हो सकती पर ज्योंही व्यष्टि समष्टि के प्रति रहे हुए अपने कर्तव्य को भूल जाती है त्योंही समाज में विशृंखला उत्पन्न हो जाती है। उस समय कुबेर की सम्पत्ति, इन्द्र का ऐश्वर्य्य और असंख्य जनसंख्या भी उसकी रक्षा नहीं कर सकती।

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा भारतवर्ष है। जब इस देश की गुलामी के चिह्न दृष्टिगोचर होने लग गये थे उस समय भी इसके पास असंख्य दौलत और अतुल ऐश्वर्य्य था। पर वह दौलत और ऐश्वर्य्य इसकी रक्षा करने में बिलकुल असमर्थ हुआ। गुलामी की जंजीर इसके पैरों में पड़ ही गई। गुलामी के पश्चात् यद्यपि इसका ऐश्वर्य्य और धन बहुत नष्ट हो गया, तथापि आज भी पेट भरने योग्य द्रव्य का इसके पास अभाव नहीं है। आज भी समाज के अन्दर हजारों करोड़पति दिखलाई देते हैं—आज भी बड़े २ शहरों में सैकड़ों ऐश्वर्य्य की दीप्ति जगमगाती हुई दृष्टिगोचर होती है। आज भी यहाँ की जनसंख्या सारी दुनिया का एक पंचमांश है। पर इतनी सब

चातों के होते हुए भी हम लोग गुलाम हैं, पतित हैं, कायर हैं। पेट भरने योग्य सम्पत्ति के होते हुए भी हम लोग भूखों मरते हैं—इतने ऐश्वर्य्य के होते हुए भी हम लोगों को सड़कों पर सोना पड़ता है और इतनी जनसंख्या सम्पन्न जाति के होते हुए भी हमें एक छोटी सी जाति की गुलामी करना पड़ती है। इसका क्या कारण है?

कई वर्षों से इसके कारणों की खोज की जा रही है, पर अधिकांश में वह खोज बहुत कुछ ऊपरी ही होती है। लोग कह देते हैं कि हम लोग गुलाम हैं और ये सब बातें गुलामी के कारण ही होती हैं। वे और अन्दर घुस कर खास मर्ज़ को दूर करने की कोशिश नहीं करते। हम गुलाम हैं इस बात को तो वे बतला देते हैं पर यह बतलाने का प्रयत्न नहीं करते कि कौनसे पापों के कारण यह गुलामी हमारे गले में पड़ी है। और वे कारण अबतक बने हुए हैं या नष्ट हो गये हैं। क्योंकि जबतक वे कारण बने रहेंगे तबतक तो आज़ादी मिल नहीं सकती। इन सब बातों को छोड़ कर केवल ऊपर की मरहम पट्टी से इस मर्ज़ को आराम करने की कोशिश करते हैं और इसी कारण हमें अपने प्रयत्न में पूरी सफलता नहीं मिलती।

हम लोग यह कह कर अंग्रेजों को दोष देते हैं कि उन्होंने हमें दरिद्री कर दिया है, उन्होंने हमें कायर बना दिया है। पर इस कथन में भी हम एक बड़ी भूल कर जाते हैं। यदि किसी घायल अथवा व्याधिग्रस्त पड़े हुए मनुष्य की आंख को कौवा

निकाल कर खा जाता है तो उस कीट को दोष देना बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो उसकी खुराक ही है। यदि हमें उस मनुष्य की रक्षा करना है तो उसकी चिकित्सा करके उसे खड़ा करना होगा। बिना उसकी व्याधि के नष्ट हुए उसकी रक्षा नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि कोई विजयी जाति विजित जाति पर अपना शासन दृढ़ करने का प्रयत्न करती है तो केवल इसी कारण उस विजयी जाति को कोसने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। वास्तविक लाभ तो तभी हो सकता है जब कि उस विजित जाति में भी वही शक्तियाँ उत्पन्न कर दी जायं जिससे वह उस विजयी जाति का मुकाबिला कर सके।

मेरा खयाल है कि कोई भी जाति किसी दूसरी जाति को गुलाम नहीं बना सकती। कोई भी उसे कायर और निर्धन नहीं कर सकती। जातियाँ अपने ही दोषों से गुलाम होती हैं और वे आज़ाद भी तभी हो सकती हैं जब उनकी मूल व्याधि की चिकित्सा की जाय।

यदि हम भारतवर्ष के गुलाम होने के कारणों को खोजते २ जड़ तक पहुंचते हैं और उसके मूल कारण की खोज करते हैं तो हमें मालूम होता है कि इस देश की गुलामी का मूल कारण समष्टि और व्यष्टि के सम्बन्ध का मूलच्छेद हो जाना ही है। हमारी आज़ादी छिन जाने का मूल कारण व्यक्तिगत स्वार्थों के सम्मुख जातिगत स्वार्थों की उपेक्षा करना ही है।

यदि दुर्योधन अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के फ़ेर में न पड़ कर सामाजिक शान्ति की रक्षा के निमित्त ही पाण्डवों को केवल पांच गांव दे देता तो वन्धुविद्रोह की भयङ्कर अग्नि में भारतवर्ष भस्म न होता। यदि जयचन्द अपनी लोलुपता के फ़ेर में पड़ कर मुहम्मद गोरी की सहायता न करता तो भारतवर्ष को गुलामी के दिन न आते। इससे हमारा यह कथन नहीं है कि दुर्योधन या जयचन्द ही इन घटनाओं के मूल कारण थे। नहीं, उस समय सारे समाज की मानसिक अवस्था ऐसी ही बिगड़ी हुई थी, दुर्योधन और जयचन्द तो निमित्त कारण मात्र थे।

देश के अन्तर्गत आज भी यही स्थिति उपस्थित है। आज भी हम लोग व्यक्तिगत स्वार्थों के सम्मुख जातिगत स्वार्थों का विसर्जन करने के निमित्त तैय्यार रहते हैं। आज भी हम लोग देश की आज़ादी के निमित्त गरीबों की झोपड़ियों से इकट्ठे किये हुए पैसों पर भी हाथ साफ करने में नहीं चूकते। आज भी हम लोग अपने अछूत मित्रों के प्रति उतने ही घृणा के भाव प्रदर्शित करते हैं और ऐसी स्थिति में रहते हुए भी अपने को आज़ाद होने का अधिकारी समझते हैं।

हमारे परम पूज्य नेता महात्मा गांधी अपनी तपस्या के अतुल प्रभाव से देश को आज़ाद करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके ज़बर्दस्त व्यक्तित्व के प्रभाव से देश में एक प्रकार की सात्विक क्रान्ति भी उत्पन्न हुई थी और आज भी उसका

प्रभाव जारी है। पर मेरे खयाल से तो जब तक भारतीय-मनुष्य प्रकृति में उत्पन्न हुई इस विकृति की चिकित्सा न की जायगी तब तक स्वतंत्रता के स्वप्न शेखचिल्ली की कहानियों से बढ़ कर नहीं है।

एक लेखक ने लिखा है कि जातिगत अपमान की मात्रा उस समय बहुत ही भयङ्कर हो जाती है जब वह अपमान खुद अपनी ही जाति के व्यक्तियों के द्वारा होने लगता है। भारतवर्ष में आज यही दुर्दिन उपस्थित है। हमारी राष्ट्रीयता का जितना अपमान हमारे भाइयों के द्वारा होता है उसका एक अंश भी अंग्रेज़ों के द्वारा न होता होगा।

भारतवर्ष की एक बहुमूल्य वस्तु खो गई है, वह जहां तक प्राप्त नहीं हो जाती वहां तक कोई भी आन्दोलन फ़िर वह चाहे अहिंसात्मक-असहयोग या उससे बढ़ कर ही क्यों न हो सफ़ल नहीं हो सकता। वह वस्तु हमारा मनुष्यत्व है। आज कई शताब्दियों से हमारा यह रत्न गायब है। जब तक यह खोई हुई निधि हमें पुनः प्राप्त नहीं हो जाती तब तक कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। मनुष्यत्व विहीन काले हृदयों पर खादी की पोशाक भी कौए को मोर के पंख की तरह भली मालूम नहीं हो सकती। मनुष्यत्व विहीन जाति अहिंसा के सच्चे अर्थ को भी उपयोग में नहीं ला सकती। और अगर यदि धृष्टता न हो तो मुझे यह भी कहने दीजिए कि मनुष्यत्व विहीन जाति कभी आज़ाद भी नहीं हो सकती।

हम पहले अच्छे थे क्योंकि उस समय हमारा मनुष्यत्व बना हुआ था। और आज बुरे हैं क्योंकि हमारा वह अमूल्य रत्न खो गया है। यदि हम फिर वैसे ही होना चाहते हैं तो हमारा सबसे पहला कर्तव्य उसी रत्न को प्राप्त करना है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गई है। इसमें बतलाया गया है कि हमारा प्राचीन नैतिक-जीवन कितना उत्तम था और आज का कैसा अधम है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि मनुष्य को प्रारम्भ से ही अपना जीवन कैसे सांचे में ढालना चाहिए जिससे वह भविष्य में पूर्ण मनुष्यत्व युक्त निकले। पुस्तक बहुत ही शीघ्रता में लिखी गई है, इस कारण जैसी इसकी कल्पना थी वैसी सुन्दर न हो सकी। फिर भी जितना कुछ हो सका हिन्दी संसार की सेवा में भेंट है। यदि यह पसन्द की गई तो लेखक अपने प्रयत्न को सफल समझेगा। इस पुस्तक के प्रणयन में दैशिक शास्त्र, भाग्य निर्माण, शिक्षा, भक्तियोग, सुधारणा और प्रगति, दिव्य जीवन, कालिदास और भवभूति, चौबे का चिट्ठा आदि कई पुस्तकों से सहायता ली गई है। अतः लेखक इन पुस्तकों के विद्वान् लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ है।

शान्ति मन्दिर-भानपुरा
देवशयनी १९८२ } निवेदक
चन्द्रराज भण्डारी "विशारद"

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

—o—

हमारा प्राचीन नैतिक जीवन

जब हमारे पूर्वज आर्य्य लोग शुरू शुरू में भारतवर्ष के अन्दर आये, जब उन्होंने अपनी समाज की रचना करना प्रारम्भ किया, उस समय उन लोगों के ध्यान में समाजशास्त्र के अनेक सूक्ष्म तत्वों के साथ साथ एक यह भी तत्व आया कि, बिना व्यक्तियों के जीवन में नैतिकता का समावेश हुए समाज में चिरस्थायी शान्ति स्थिर नहीं रह सकती। उन लोगों ने अपने विराट् मस्तिष्क के द्वारा तत्काल ही यह निष्कर्ष निकाला कि, जब तक प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सामाजिक कर्तव्यों की ज़िम्मेदारी के भावों का समावेश नहीं हो जाता, जब तक हर एक व्यक्ति सामाजिक स्वार्थों के साथ व्यक्तिगत स्वार्थों का मेल नहीं कर लेता, तबतक समाज के अन्दर होनेवाली अनिष्टकारक घटनाओं का अन्त नहीं हो सकता। वे लोग मनोविज्ञान के इस सूक्ष्म तत्व

को भली प्रकार जानते थे कि, प्रकृति ने मनुष्यों को एक ओर तो सामाजिक जीव बनाया है जिससे उनमें पारस्परिक साम्य की अतीव आवश्यकता रहती है और दूसरी ओर उनको अहङ्कार की इतनी अधिक मात्रा दे दी है कि, वे अपने अत्यल्प लाभ के लिए भी एक दूसरे को महा हानि करने को सन्नद्ध रहते हैं। मनुष्य हृदय के इन दोनों स्वाभाविक और विरोधात्मक गुणों में जबतक समानता नहीं होती, जबतक वे एक तराजू पर तौलकर नहीं रक्खे जाते, जबतक उनमें एक की कमी और दूसरे की वेशी रहती है वहाँ तक समाज में कदापि समाजगत और व्यक्तिगत सुख, शान्ति और आज़ादी की रक्षा नहीं हो सकती।

मनोविज्ञान के इस उत्कृष्ट तत्व का अध्ययन करने के पश्चात् उन लोगों ने समाज के अन्दर, प्रत्येक व्यक्ति के लिए दो बड़ी बड़ी व्यवस्थाओं का आविष्कार किया। ये दोनों व्यवस्थाएँ आगे चल कर वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुईं। इन दोनों धर्मों के अन्दर उन लोगों ने नैतिकता के उन सब सिद्धान्तों का प्रायः समावेश कर दिया जिनकी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में नित्य प्रति आवश्यकता हुआ करती है, और जिनके रहते हुए समाज में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं हो सकती।

इस स्थान पर हम इन दोनों धर्मों के मोटे मोटे सिद्धान्तों का बहुत ही संक्षिप्त रूप से कुछ विवेचन कर देना उचित सम-

भते हैं, जिससे पाठकों को यह भली प्रकार मालूम हो जाय कि इन दोनों व्यवसाओं का नैतिकता से कितना गहरा सम्बन्ध है।

यह बात प्रायः निर्विवाद है—संसार के प्रायः सभी मनोविज्ञानवेत्ता मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि, समाज में चिरस्थायी शान्ति बनाये रखने के लिए श्रेष्ठ बुद्धि का, उत्कट पौरुप का, पर्य्याप्त अर्थ का, और यथेष्ट अवकाश का, संयोग होना आवश्यक है, इन चारों बातों में से एक के भी कम अथवा अधिक होने से साम्यावस्था की धारणा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह बात भी निर्विवाद है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर इन चारों प्रकार के गुणों का होना दुःसाध्य है, किसी के अन्दर यदि श्रेष्ठ बुद्धि होती है तो उत्कट पौरुप नहीं होता, और यदि उत्कट पौरुप होता है तो व्यवसायात्मक बुद्धि का अभाव रहता है। इन सब बातों को सोचकर हमारे प्राचीन ऋषियों ने गुण कर्मानुसार समाज के चार विभाग कर दिये।

जिस वर्ग पर समाज के विद्याप्रचार का भार, एवं समाज के नैतिक जीवन की जिम्मेदारी रक्खी गई वह वर्ग ब्राह्मण वर्ण कहा गया। बल वीर्य्य द्वारा समाज में पौरुप बनाए रखने वाला और समाज की शासनिक स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाला वर्ग क्षत्रिय वर्ण कहा गया। अर्थ द्वारा समाज में समृद्धि बनाये रखने वाला और समाज की आर्थिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ग वैश्य वर्ण कहा गया। शारीरिक श्रम और सेवा

द्वारा, समाज को यथेष्ट अवकाश देने वाले समाज की आवकाशिक स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाला वर्ग शूद्र वर्ण कहा गया।

इस व्यवस्था के द्वारा सामाजिक स्वार्थ की सिद्धि तो हो जाती है पर जहाँ तक सामाजिक स्वार्थ के साथ व्यक्तिगत स्वार्थ का साम्य नहीं हो जाता, वहाँ तक यह व्यवस्था अधूरी रह जाती है। जहाँ तक, इन चारों वर्णों को अपनी अपनी सेवा का पुरस्कार नहीं मिलता वहाँ तक वे क्यों समाज की सेवा करने को कटिबद्ध होंगे। मानसशास्त्र का यह एक मामूली सिद्धान्त है कि, कुछ प्रतिभाशाली महापुरुषों को छोड़कर जहाँ तक व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि होने की आशा नहीं रहती तब तक व्यक्ति कभी कोई कार्य करने को प्रस्तुत नहीं होता। हमारे पूर्वजों ने इस तत्व को समझा और खूब समझ कर उन्होंने चारों वर्णों के लिए चार प्रकार के पुरस्कार नियत किये। उन्होंने सामाजिक विभूति के चार विभाग किये। (१) मान (२) ऐश्वर्य्य (३) विलास और (४) नैश्चिन्त्य। इन चारों विभूतियों में से प्रत्येक वर्ण को एक एक विभूति प्रदान की गई। यह स्वभाव सिद्ध है कि, ज्ञानद्वारा समाज की सेवा करनेवाला वर्ण अवश्य सम्मान का इच्छुक होगा। इसके अतिरिक्त ताकत के द्वारा सेवा करनेवाला वर्ण ऐश्वर्य्य का, अर्थ द्वारा सेवा करनेवाला वर्ण विलास का, और सेवा द्वारा समाज की सेवा करनेवाला वर्ण नैश्चिन्त्य का स्वभावतया ही इच्छुक होगा। लोगों की इसी मानसिक प्रकृति की परीक्षा करके हमारे

पूर्वजों ने चारों वर्णों को चार विभूतियाँ प्रदान की। ब्राह्मणों को मान, क्षत्रियों को ऐश्वर्य, वैश्यों को विलास और शूद्रों को नैश्चिन्त्य दिया गया। समाज की स्वाभाविक स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए न्यायविधान की रचना करने का भार ब्राह्मण वर्ग पर रक्खा गया। लेकिन स्वार्थ प्रेरणा के वशीभूत होकर कहीं ब्राह्मण वर्ग समाज पर अनौचित्य न कर बैठे, इस लिए समाज की सत्ता का भार क्षत्रिय वर्ग पर रक्खा गया। ब्राह्मण वर्ग किसी नूतन व्यवस्था का आविष्कार करके क्षत्रिय वर्ण (राजा) के पास पेश कर देता था। वहाँ पर उसका विचार होकर जब वह व्यवस्था पास हो जाती थी तब समाज में कानून रूप से प्रचलित की जाती थी।

मतलब यह कि, यह व्यवस्था इतने सुन्दर ढङ्ग से प्रचलित की गई थी कि, जहाँ तक समाज के अन्दर यह अबाधित रूप से प्रचलित रही, वहाँ तक यहाँ का समाज संसार भर के समाजों में सर्व श्रेष्ठ बना रहा। इसी व्यवस्था के अनुकरण पर जर्मनी के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता केण्ट ने अपने "पाजिटिव्ह फिला-सफ़ी" नामक ग्रन्थ में और यूनान के तत्ववेत्ता एरिस्टोटल ने "पालिटिक्स" में अपनी अपनी व्यवस्थाएं बनाई हैं। पर ये व्यवस्थाएं वहाँ के जन समाज में क्योंकर प्रचलित न हो सकीं और यहाँ के समाज में यह व्यवस्था क्योंकर इतनी अधिक सफलीभूत हो गई इसका कारण आगे चल कर मालूम होगा।

यह तो हमारे प्राचीन सामाजिक नैतिक जीवन का इतिहास

हुआ। पर जब तक व्यक्तियों का नैतिक जीवन विकसित नहीं होता, जब तक समाज के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन नैतिक नहीं बन जाता तब तक समाज का नैतिक जीवन कभी सफल रूप से व्यतीत नहीं हो सकता। क्योंकि, व्यक्तियों का समुदाय ही "समाज" कहा जाता है।

जब तक सब व्यक्ति समष्टि रूप से उक्त विचारों के नहीं हो जाते तब तक उपरोक्त व्यवस्था सफलीभूत नहीं हो सकती। पर इस प्रकार के व्यक्तियों की अधिकता समाज में कैसे हो सकती है, यह सवाल बहुत ही गहन है। इस स्थान पर आकर युरोप के तत्वज्ञानियों को अपनी व्यवस्था अस्वाभाविक मालूम होने लगी और इसी कारण प्लेटो और एरिस्टोटल की व्यवस्थाएं उनके ग्रन्थों तक ही मर्यादित रह गई। समाज में उनका उपयोग न हो सका। पर हमारे आचार्य्यों ने "आश्रम-धर्म" नाम की व्यवस्था के द्वारा इस कठिन समस्या को भी हल कर डाला। उन्होंने जिस प्रकार चार वर्णों का विभाग करके समाज के नैतिक जीवन को बनाने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार चार आश्रमों के द्वारा उन्होंने व्यक्ति के नैतिक जीवन के संगठन का मार्ग भी बतला दिया। मनुष्य जीवन के उन्होंने चार ऐसे विभाग कर दिये कि जिसके द्वारा मनुष्य संसार में आकर अपने जीवन को पूर्णतया नैतिक बना सके। इन चार आश्रम विभागों की भित्ति भी मनोविज्ञान के आधार पर स्थापित की गई। ये चार आश्रम, ब्रह्मचर्य्याश्रम,

गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, और संन्यस्ताश्रम के नाम से कहे गये। इसके अतिरिक्त इन विभागों को और भी अधिक सफलता पूर्वक चलाने के लिए उन्होंने "अधिजननिक शास्त्र" की भी रचना की। इस शास्त्र के द्वारा गर्भ में ही बच्चों के संस्कार ऐसे दिव्य बना दिये जाते थे कि जिनके प्रताप से भविष्य में जाकर प्रत्येक व्यक्ति पहले सिरे का समाज सेवक और कर्मयोगी निकले। यहाँ पर इतना स्थान नहीं कि, हम इस शास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप से भी विवेचन कर सकें। इसलिये इस विषय पर इतनाही कह कर हम अपने प्रधान विषय की ओर झुकते हैं।

(१) मनुष्यजीवन के प्रथम विभाग में अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम में आध्यायनिक शास्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के बुद्धि, मन और शरीर की अनुकूल रचना की जाती थी। दस से लगा कर चौदह वर्ष के भीतर गृह से अलग करके नगर से दूर किसी आदर्श गुरु के आश्रम में विद्यार्थी भेज दिया जाता था इन आश्रमों में राजकुमारों से लेकर गरीब बालकों तक सबसे समान व्यवहार किया जाता था। सबको समान रूप के सात्विक भोजन और सात्विक सन्निकर्ष विषयक नियमों का पालन करते हुए रहना पड़ता था। इन स्थानों में शीत और ऊष्ण, सुख और दुःख एवं मान और अपमान की पूर्ण अवहेलना की जाती थी। पर स्त्रियों को माता के समान और पर द्रव्य को लोह के समान समझने की उत्कृष्ट शिक्षा यहाँ पर दी जाती

थी। सब बालकों को ऐहिक और पारलौकिक ज्ञान-विज्ञान में पाण्डित्य प्राप्त करवाया जाता था। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक शिक्षा के द्वारा उनको वर्ण-धर्म पालन में निपुणता प्राप्त करवाई जाती थी। इन सब प्रकार की शिक्षाओं के द्वारा उनके हृदय में निष्काम बुद्धि और कर्मयोग के भावों को ओत प्रोत भर दिया जाता था। और तब उन्हें कर्मयोग के महान् परीक्षा-स्थल गृहस्थाश्रम की रंगभूमि में प्रवेश करने का आदेश दिया जाता था। यौवन प्राप्त होने तक नित्य इसी प्रकार की शिक्षा मिलने से मनुष्य में एक ओर तो त्याग, ओज और विवेक की वृद्धि होती थी, और दूसरी ओर उसमें शान्ति और स्वधर्म का कौशल भर जाता था। जिससे मनुष्य के मन, बुद्धि और शरीर, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के बिलकुल अनुकूल हो जाते थे।

(२) ब्रह्मचर्य्याश्रम के पूर्ण हो जाने पर ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर जाति धर्म, वर्ण धर्म, कुल धर्म, और आश्रम धर्म, के पालन करने का संकल्प करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में गुरु के स्थान प उसे देश और जाति रूपी गुरु मिलते हैं। इस आश्रम में प्रवेश करके एक अपने योग्य सुन्दर, सुशील, सुशिक्षित, और सुन्दर कन्या से धर्म पूर्वक विवाह करके वह कर्मभूमि में प्रवेश करता था। इस आश्रम में उसकी सब चेष्टाएं देश और जाति के हितार्थ होती थीं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम रूपी कर्मभूमि में योग्य कार्य्य करके वह चतुर्वर्ग का साधन करता था।

(३) गृहस्थाश्रम रूपी रङ्गशाला में बीस पचीस वर्ष अपना सुन्दर अभिनय करके और अपने स्थान पर अपने पुत्र रूपी दूसरे पात्र का प्रवेश हो जाने पर दर्शक मण्डली की हर्ष-ध्वनि के बीच निष्क्रमण करके वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में भगवान के चरणारविन्दों के अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान नहीं रक्खा जाता था। हाँ, गृहस्थ लोगों को अनुभव की कमी के कारण यदि किसी विषय में कोई सलाह लेने की आवश्यकता होती, तो वह इन वानप्रस्थ लोगों से मिल सकती थी।

(४) वानप्रस्थाश्रम में निष्ठा हो जाने पर संन्यास धारण किया जाता था। शेष आयु समाधि अवस्था में अथवा जीवन मुक्तावस्था में बिताई जाती थी। शरीर से बहुत कम प्रयोजन रहता था। इस आश्रम में क्रमशः अहंभाव नष्ट हो जाता था। सारा जगत् ब्रह्ममय हो जाता था। किन्तु यह अवस्था बहुत ही कम भाग्यशालियों को प्राप्त होती थी।

नैतिक जीवन का इससे उत्तम आदर्श संसार के किसी भी देश में स्वभावतः नहीं मिल सकता। इसी नैतिक जीवन की महत्ता के प्रताप से हमारा तत्कालीन समाज अत्यन्त सुन्दर हो गया था। वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव से तत्कालीन समाज में कई विशेषताएं उत्पन्न हो गई थीं। पहली विशेषता तो यह थी कि, व्यक्ति अथवा समाज के प्रतिद्वन्दी विषयों में साम्य हो जाता था। व्यक्तिगत और समष्टिगत हितों का संयोग हो

जाता था। जिससे समाज के हितार्थ ब्राह्मण दारिद्र्य को, क्षत्रिय प्राणसंशय को, वैश्य चिन्ता को और शूद्र सेवा को सानन्द स्वीकार कर लेते थे। समाज में सर्वत्र सन्तोष रहता था जिससे देशद्रोह का बीज उत्पन्न नहीं होने पाता था। मान के साथ दारिद्र्य, ऐश्वर्य्य के साथ प्राणसंशय, लक्ष्मी के साथ भार और नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होने से ब्राह्मण अभिमानी नहीं होने पाते थे, न क्षत्रिय उच्छृंखल होने पाते थे, न वैश्य दुर्व्यसनी होते थे और न शूद्र असन्तोषी होते थे। मतलब यह कि, समाज में सर्वत्र साम्य रहता था।

बस, यही हमारे प्राचीन नैतिक जीवन का संक्षिप्त इतिहास है। यह सब नैतिकता का ही प्रभाव था जिससे भारतवर्ष ने संसार के अन्दर उच्च स्थान प्राप्त किया। यहाँ का प्राचीन समाज, यहाँ का प्राचीन साहित्य, और यहाँ के प्राचीन दर्शन जो आज भी संसार के अन्दर अपना एक खास स्थान रखते हैं, हमारे नैतिक जीवन के ही फलस्वरूप हैं। जहाँ तक समाज में नैतिकता अबाधित रूप से चलती रही; जहाँ तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति नैतिकता के सौन्दर्य्य पर मुग्ध होता रहा, वहाँ तक हमारा समाज उन्नति के शिखर पर आरूढ़ रहा। और जिस दिन से नैतिक जीवन की महत्ता में अन्तर होने लगा, जिस दिन से हम नीति के महत्व को भूल गये, जिस दिन से स्वार्थ का घुन हमारी आत्मा में बैठ गया, उसी दिन से हमारे समाज की जो अधोगति हुई, वह इतिहास प्रसिद्ध है।

वर्णाश्रमधर्म और प्लेटो का रिपब्लिक

हमारे प्राचीन शास्त्रों में वर्णित वर्णाश्रम धर्म की छाया यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी प्लेटो के रिपब्लिक और एरिस्टोटल के पालिटिक्स में भी पाई जाती है। नीचे हम प्लेटो के रिपब्लिक के अनुसार समाज-रचना का संक्षिप्त विवेचन करते हैं :—

आदर्श समाज-रचना का वर्णन करते हुए प्लेटो लिखते हैं कि, उस समाज में कुछ लोग ऐसे हों कि, जो अपने गुण कर्म के अनुसार समाज के लिए अन्न और वस्त्र उत्पन्न किया करें और कुछ लोग ऐसे हों जो आय और विक्रय के द्वारा उस अन्न को समाज में वितरित किया करें। कुछ दृढ़ शरीर और साहसी मनुष्य ऐसे हों जो अपनी जीविका के योग्य वेतन लेकर बाह्य और भीतरी आपत्तियों से समाज की रक्षा किया करें। कुछ निपुण और बुद्धिमान मनुष्य ऐसे हों जो समाज की नीतिमत्ता की रक्षा करें। वे लोग दीर्घाभ्यासी एवं

स्वजाति के लिए विनीत और परजाति के लिए भयङ्कर हों। उस समाज में ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय कि जिससे मनुष्यों के चित्त पर बाल्यावस्था से ही मृत्यु का भय और बीभत्स संस्कार न जमने पावे। एवं शारीरिक व्यायाम के द्वारा वहाँ के लोग स्वस्थ और सुडौल बनाए जाँय। गान्धर्व विद्या द्वारा उनके चरित्र में शालीनता और चित्तप्रसादन के संस्कार डाले जायँ। शासक और उनके अधिकारी परस्पर एक दूसरे के अनुवर्ती हों।

उस समाज के अधिकारी सुयोग्य हों, बुद्धिमान हों, देश सेवा के रसिक हों, जो समाज की सुखसमृद्धि को अपनी सुख समृद्धि समझते हों। उस समाज में न सम्पत्तिका अत्यन्त प्रभाव ही हो न अत्यन्त अभाव। जहाँ हमेशा सुसंस्कारों का योगक्षेम होता हो, जहाँ के व्यक्तियों को बचपन से ही देश भक्ति की शिक्षा मिलती हो। जहाँ स्त्री, पुरुष, बालक, प्रजा-शासक, शिल्पी आदि सब लोग अपने अपने कार्य्यों में लगे हों। और कोई एक दूसरों के काम में हस्तक्षेप न करता हो। क्योंकि एक व्यवसाय के लोगों का दूसरे व्यवसाय के लोगों के काम में हस्तक्षेप करने से समाज में विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है।

जहाँ विवाह-पद्धति शुद्ध और संस्कार युक्त हो, जहाँ उत्तम दम्पत्तियों के केवल यौवन में सन्तान उत्पन्न होती हो, जहाँ उत्तम संस्कार युक्त बालकों को एकान्त में शिक्षा दी

जाती हो। जहाँ भिन्न प्रान्तों में बसे हुए एक जाति के लोग अपने को दूसरों से भिन्न नहीं समझते हों। और उनमें परस्पर प्रेमभावना रहती हो।

जहाँ शासक लोग विद्वान और पण्डित हों। जहाँ दैशिक शास्त्र आध्यात्मिक शास्त्र का एक अङ्ग समझा जाता हो। जहाँ पर मर्यादा और व्यवस्था से बाहर न जाने वाले व्यक्तियों को अधिकार दिये जाते हों न कि नौकरी के लिए अर्जी देने वालों को। जहाँ समाज संचालन का काम पण्डितों के हाथ में हो न कि पण्डित मानियों के हाथ में जहाँ राज्याधिकार ऐसे लोगों के हाथ में हो जो सत्ता को तुच्छ समझें। जो ऐसी अवस्था का रसास्वादन कर चुके हों। जिसके सन्मुख शासन की रमणीयता भी फीकी मालूम होती हो।

जहाँ बाल्यावस्था में ज्योतिष और अणुवीक्षण की परीक्षा द्वारा मनुष्यों की बुद्धि में तीक्ष्णता लाई जाती हो। जहाँ गुरु शिष्यों में सख्य भाव रहता हो जहाँ सबसे प्रथम स्वास्थ्य का योगक्षेम किया जाता हो एवं अन्त में शान्ति से कालक्षेप किया जाता हो।

जहाँ विद्या और गुणों के साथ सम्मान की भी वृद्धि होती हो। जहाँ सद्गुणों का गौरव होता हो, न कि सम्पत्ति का। जहाँ एक मनुष्य अनेक काम न करता हो। जहाँ कोई निरुद्यमी न रहने पाता हो। जहाँ न कोई अति धनानुरागी हो न कोई अति विषयानुरागी। जहाँ सब लोग युक्ताहार विहार शील हों

जहाँ आलसी और अल्पव्ययी लोग दूर से ही फटकार दिये जाते हों। जहाँ के सब लोग आत्मनिष्ठ हों।

एरिस्टोटल के पालिटिक्स नामक ग्रन्थ में, एवं जर्मनी के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता आगस्ट केएट की "पाजिटिव्ह-फिलासफ़ी" में भी इसी आशय की कुछ मतभेदों सहित समाज-रचना का उल्लेख किया गया है। यह रचना हमारे वर्णाश्रम धर्म से कितनी मिलती जुलती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। बल्कि यह भी कहा जाय तो अनुचित न होगा कि, वर्णाश्रम धर्म के ही अनुकरण पर इसकी कल्पना की गई हो। क्योंकि प्लेटो के इसी रिपब्लिक के छट्ठे अध्याय में यह भी विवेचन किया गया है कि, किसी दूरवर्ती पौर्वात्य देश में अभी भी ऐसी समाज रचना प्रचलित है। क्या आश्चर्य है यदि यह सङ्केत भारतवर्ष से ही सम्बन्ध रखता हो।

अस्तु, हमारे कहने का मतलब यह है कि, ऐसी समाज रचना किसी देश में तभी सम्भव हो सकती है जब कि, वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन नैतिकता से परिपूर्ण हो। यह बात किसी भी पुराने समाज में वहाँ तक सम्भव नहीं हो सकती, जहाँ तक उसका प्रत्येक व्यक्ति गर्भज संस्कारों से ही उन्नत होकर पैदा न हुआ हो। यही कारण है कि, प्लेटो के समान दार्शनिक भी ऐसे समाज की केवल कल्पना करके ही रह गये। इस कल्पना को व्यवहारिक रूप देना उन्होंने असम्भव समझा। हमारे आचार्यों ने चिरअध्ययन के पश्चात् इस

कल्पना को व्यवहारिक रूप दिया। इन धर्मों के चिरस्थायी बनाए रखने के लिए उन्होंने अधिजनन शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, अध्यापन शास्त्र, आदि कई नवीन शास्त्रों की आयोजना की। इस सतत परिश्रम के फल.स्वरूप कुछ दिन तक भारत में स्वर्गीय समाज के दृश्य दिखाई भी पड़ने लगे। पर अन्त में मनुष्य प्रकृति के आगे उनको भी पराजित होना पड़ा। उन्होंने सब कुछ किया पर मनुष्य के मानसिक विकारों पर वे पूर्ण विजय प्राप्त न कर सके। मनुष्य प्रकृति की काली बाजू (Dark Side) को धोकर वे साफ न कर सके, और अन्त में उसका जो भीषण परिणाम हुआ वह आज हमारी आँखों के सम्मुख है।

व्यक्ति के नैतिक जीवन पर सामाजिक शान्ति की निर्भरता

हम पहले लिख आये हैं कि व्यक्ति और समष्टि का प्राकृतिक रूप से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य स्वाभाविकतया ही सामाजिक जीव है। विना समाज के वह अकेला नहीं रह सकता। मनुष्यहृदय के इसी सूक्ष्म तत्त्व पर समाज की रचना हुई है। जब एक से अधिक व्यक्तियों का समूह एक स्थान पर एकत्रित होकर रहने लगता है, जब उन व्यक्तियों में परस्पर राहरस्म, विवाह शादी, लेन देन, आदि रिवाज प्रचलित होने लग जाते हैं तब यह समूह ही समाज रूप में परिवर्तित हो जाता है और समाज रूप में परिवर्त्तित होते ही उसमें कुछ आवश्यक नियम निश्चित हो जाते हैं। उन नियमों के द्वारा व्यक्ति का समाज पर और समाज का व्यक्ति पर कुछ न कुछ भार हो जाता है। इस भार को सुचारु रूप से वाहन करना ही कर्तव्य कहा जाता है, उसी कर्तव्य को दूसरे शब्दों में नीति कह सकते हैं। इसी प्रकार की नीति से युक्त जीवन को ही नैतिक जीवन कहते हैं। जहाँ तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति

अपने जीवन संग्राम में नैतिकता को साथ लिये हुए आगे बढ़ता है, जहाँ तक वह समाज के प्रति अपने कर्तव्य को समझता रहता है वहाँ तक समाज में कभी विशृंखलता उत्पन्न नहीं हो सकती। लेकिन हम पहले ही कह आये हैं कि ऐसी स्थिति समाज में हमेशा स्थिर नहीं रह सकती। क्योंकि, जिस प्रकार मनुष्य स्वभावतयः ही सामाजिक जीव है उसी प्रकार अहङ्कार भी उसका स्वाभाविक गुण है, इसके अतिरिक्त उत्थान और पतन का होना भी मनुष्य प्रकृति का एक स्वभाव है। जब तक सामाजिक भावना का समष्टिगत प्रचार होता है, या जबतक अहङ्कार या सामाजिक भावना समान रूप से समष्टिगत रहती है तब तक तो समाज में दैवी सम्पद् का आधिक्य रहता है, पर ज्योंही अहङ्कार समष्टिगत होने लगता है, ज्योंही जातिगत स्वार्थ के आगे व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्व दिया जाता है त्योंही समाज की अधोगति होने लगती है। संक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि, व्यक्ति का नैतिक उत्थान ही समाज की शान्ति का द्योतक है, और नैतिक पतन ही समाज की अशान्ति का मूल कारण है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान का कथन है—"युद्ध समाज के पतन का मूल कारण नहीं हो सकता, महामारी, प्लेग और दुर्भिक्ष भी समाज की अधोगति के मूल कारण नहीं हो सकते। किसी समाज के नष्ट होने अथवा उसकी अधोगति के कारणों का यदि वास्तविक खोज करना हो तो सबसे पहले उस समाज के व्यक्तियों के चरित्र का अध्ययन

करना चाहिए। बिना नैतिक पतन के हुए किसी भी समाज का बाह्य पतन नहीं हो सकता।"

उपरोक्त लेखक का कथन उसके बढ़े हुए ऐतिहासिक अध्ययन को सूचित करता है। प्रत्येक देश का इतिहास उपरोक्त कथन की सत्यता को प्रकट कर सकता है। प्रत्येक राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन का भविष्य उसके तत्कालीन व्यक्तियों के चरित्र की जाँच करने पर सहज ही निकाला जा सकता है। कोई भी राजनैतिक आन्दोलन किसी भी बाह्य शक्ति के द्वारा कदापि नहीं दवाया जा सकता, पहिर्जगन का वायु मण्डल उसे कदापि नष्ट नहीं कर सकता। यदि वह असफल होता है तो केवल व्यक्तियों की नैतिक कमज़ोरी के कारण, या यों कहिए कि समाज की समष्टिगत स्वार्थपरता के कारण।

उपरोक्त कथन से यह सावित हुआ कि, व्यक्ति के नैतिक जीवन पर ही समाज की शान्ति निर्भर है। एक भी व्यक्ति के नैतिक पतन का प्रभाव सारी समाज पर पड़ता है। यह बात बाहरी दृष्टि से कुछ असम्भव चाहे जान पड़े, पर वास्तव में बिलकुल सत्य है। जिस प्रकार धीरे से बोला हुआ एक शब्द भी सारे वायु मण्डल में खलबली मचा देता है, या जिस प्रकार एक छोटा सा कंकर भी सारे समुद्र के अन्दर लहर पैदा कर देता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति का पतन भी समाज में अप्रत्यक्ष रूप से अग्नि का बीज पैदा कर सकता है।

मितव्ययिता मनुष्य के नैतिक जीवन का एक अङ्ग है। मान

लीजिये कि, समाज का एक व्यक्ति विलास प्रियता के फेर में पड़कर इस गुण का दुरुपयोग करता है। वह अपनी मर्यादा से अधिक खर्च करता है। इसका परिणाम क्या होगा। यही कि उसके इस गुण का प्रभाव उसके खास खास मित्रों पर अवश्य असर करेगा। क्योंकि, वह समाज में अकेला तो रहता ही न होगा, अवश्य उसके कुछ न कुछ अन्तरङ्ग मित्र होंगे ही। अब यदि वह दुर्गुण विशेष आनन्द का प्रदायक हुआ तो निश्चय है कि उन मित्रों के दूसरे मित्रों और उनके भी आगे वाले मित्रों में धीरे धीरे वह प्रसारित होता जायगा। और धीरे धीरे वह दुर्गुण समष्टिगत हो जायगा। मतलब यह है कि व्यक्ति के नैतिक उत्थान और पतन का प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कम अथवा ज़्यादा तादाद में समाज पर अवश्य पड़ता रहता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि, व्यक्ति के नैतिक जीवन पर समाज की शान्ति निर्भर है।

अब हम आगे चलकर संक्षिप्त रूप से व्यक्ति के नैतिक जीवन पर व्यवहारिक रूप से भिन्न भिन्न अध्यायों में विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य्याश्रम

प्रकृति ने मनुष्य का शरीर कई प्रकार के भिन्न भिन्न तत्वों के सम्बन्ध से बनाया है। पंचभूत तो मुख्य तत्व है ही, पर इनके अतिरिक्त भी कई उपतत्व उसने मनुष्य शरीर के अन्दर बनाये हैं, जैसे खून, हड्डी, माँस, मेदा, वीर्य्य, चर्बी, आदि। इन सब तत्वों का कार्य्य जब तक नियमित रूप से चला करता है, प्रकृति के अनुकूल उनकी गति होती रहती है तब तक शरीर स्वस्थ रहता है और मन निर्मल। शरीर के स्वस्थ और मन के निर्मल रहने से आत्मा के विकास में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

लेकिन शरीर की स्वस्थता और मन की निर्मलता वहीं तक स्थिर रह सकती है, जब तक प्राकृतिक नियम के अनुसार मनुष्य चलता रहे। जहाँ उसने इस कानून के विरुद्ध थोड़ा सा भी कार्य्य किया कि फिर वह स्वस्थता और निर्मलता नहीं रह सकती। मनुष्य जब पैदा होता है तब उसके अन्दर शरीर के ये तत्व बहुत अपरिपक्व अवस्था में रहते हैं। एक नियमित

समय के पश्चात् इन तत्वों का विकास होता है। विकास होने के पश्चात् यदि इन तत्वों का उपयोग किया जाय तब तो कोई हानि नहीं हो सकती। पर मनुष्य के अन्दर प्रकृति ने एक ऐसी भी प्रकृति रक्खी है कि यदि उस पर मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा शासन न करे, तो वह बहुत शीघ्र उसे पतित कर डालती है, इन तत्वों का अपरिपक्व अवस्था में ही उपयोग करने के लिये वह मनुष्य को प्रेरित करती है। और यदि इस प्रकृति के वशीभूत होकर वह इन तत्वों का अपरिपक्व अवस्था में उपयोग करने लगता है तो उसका सारा जीवन नष्ट हो जाता है। वह उस कली की तरह मुरझा जाता है जो खिलने के पूर्व ही वृक्ष से अलग कर दी जाती है।

मनुष्य शरीर के सात तत्वों में "वीर्य्य" सबसे प्रधान तत्व है। इसी तत्व पर शरीर का ओज और कान्ति निर्भर है। और शरीर के ओज पर ही मन और मस्तिष्क की उत्क्रान्ति निर्भर है। मतलब यह कि, मनुष्य के मन, बुद्धि और शरीर का मुख्य तत्व वीर्य्य है। पुष्प के अन्दर सुगन्ध को जो स्थान प्राप्त है, देह के अन्दर प्राण का जो दर्जा है वही स्थान और दर्जा शरीर के अन्दर वीर्य्य को प्राप्त है। यदि प्रकृति के नियमानुसार निश्चित समय तक वीर्य्य का संचय और विकास किया जाय तो मनुष्य अपार शक्तिशाली होता है, उसके मन, बुद्धि और शरीर बहुत उन्नत होते हैं। उसका नैतिक जीवन बहुत उच्च

होता है। सामान्य दृष्टि से इस वीर्य्य की एक नियमित समय तक रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य्य कहा जाता है।

पर इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का भी "ब्रह्मचर्य्य" होता है। यदि उपरोक्त ब्रह्मचर्य्य को हम "शारीरिक ब्रह्मचर्य्य" कहें तो इस दूसरे को हम "मानसिक ब्रह्मचर्य्य" कह सकते हैं। पहले और दूसरे का कार्य्य और कारण का सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर को उन्नत बनाने के लिए शारीरिक ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मन को उच्च बनाने के लिए मानसिक ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता है।

मनुष्य के मन के अन्दर जो स्वाभाविकतया खराब मनोविकार उठा करते हैं, और जिनके द्वारा शारीरिक ब्रह्मचर्य्य का भी नाश हो जाता है—उन मनोविकारों पर अपनी सत्प्रवृतियों के द्वारा शासन करना ही मानसिक ब्रह्मचर्य्य है। ये खराब मनोविकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों के हृदय में भिन्न भिन्न कारणों से उठते हैं, किसी के हृदय में जन्म के दाय संस्कारों के कारण, इन मनोविकारों का जन्म होता है, किसी के हृदय में आस पास की बुरी सोसायटी के कारण ये विकार पैदा होते हैं, और किसी के हृदय में स्त्रियों के साथ रहने के कारण इन विकारों का आविर्भाव होता है। मतलब यह कि, कई प्रकार के कारणों से इन विकारों का जन्म होता है, और जहाँ तक ये कारण समूल दूर न हो जायँ वहाँ तक समाज के अन्दर

रह कर किसी व्यक्ति का मानसिक ब्रह्मचर्य्य स्थिर नहीं रह सकता। शारीरिक ब्रह्मचर्य्य चाहे रह जाय।

फिर वे कौन से उपाय हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपना मानसिक और शारीरिक ब्रह्मचर्य्य रख सकता है? हम पहले अध्याय में ही लिख आये हैं कि, मनुष्य की अवस्था के प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष ही ब्रह्मचर्य्य की अवस्था में रहने के और मन, बुद्धि और शरीर का विकास करने के निमित्त नियमित हैं, यही एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें मनुष्य अपना आत्मिक विकास करके देश और जाति के लिए बहुत कुछ सामग्री संग्रह कर सकता है। इस अवस्था तक यदि मनुष्य संसार की दूषित वायु से बचकर एकान्त जंगल में अपने ही समान उत्तम संस्कारों के मनुष्यों के साथ रह कर, उत्तम गुरु के नीचे अपनी आत्मा का विकास करे तो वह सहज ही कुसंस्कारों से बच सकता है। यहाँ उसे मन, वचन, काम की शुद्धता के साथ उन दिव्य विचारों का संग्रह करना चाहिए जिनके द्वारा वह भविष्य में समाज की सेवा करना चाहता है, यहाँ पर उसे सफलता के उन रहस्यों का अध्ययन करना चाहिए, जिनके द्वारा लोक, और परलोक दोनों का संगठन हो सकता है, यहाँ पर उसे अपने शुद्ध अन्तः करण पर आशावाद की उन किरणों को डालना चाहिए जो मनुष्य के जीवन को उज्ज्वल बनाती है।

दिव्य विचारों का संगठन

एक अंग्रेज़ लेखक इस प्रकार के होनहार नवयुवकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"क्या आप संसार में प्रवेश करने के लिए पूँजी चाहते हैं? मैं कहता हूँ कि आप संसार में प्रवेश करने के पहले मन, वचन, कर्म से इतना सोच लें कि हमारा भविष्य प्रकाशमान होगा, हम उन्नतिशाली और सुखी होंगे, हमें सफलता और विजय प्राप्त होगी। और सब प्रकार की आनन्द सामग्री हमारे पास बिना माँगे चली आयगी। बस, सबसे पहले आशावाद की इसी दिव्य पूँजी को लेकर आप कर्मभूमि में अवतीर्ण हों और फिर उसके मीठे रस का आस्वादन करें।"

"बहुत से लोग निराशावाद के गहरे कीचड़ में फँसकर अपनी आशामय तरङ्गों को जाज्वल्यमान रखने के बदले उन्हें मन्द कर देते हैं। वे इस बात को नहीं जानते कि, हमारी अभिलाषाओं की सिद्धि के लिए हम जितना दृढ़भाव और अविचल निश्चय रक्खेंगे; उतनी हम उनकी सिद्धि कर सकेंगे। वे इस बात को नहीं जानते कि, अपनी आशाओं को जीवित रखने का

सतत प्रयत्न करने से हम उन्हें प्रत्यक्ष करने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।"

तुम अपने अन्तःकरण में इस विश्वास की जड़ जमा दो कि, जिस कार्य्य के लिए सृष्टिकर्ता परमात्मा ने हमें उत्पन्न किया है हम उसे अवश्य पूर्ण करेंगे। तुम सफलता के विरुद्ध किसी भी भाव को अपने अन्तःकरण में तिलमात्र स्थान मत दो। यदि ऐसे भाव तुम्हारे हृदय में स्थान करना चाहें तो तुम फौरन उन्हें बाहर निकालने की कोशिश करो। तुम अपने मनो-मन्दिर में आशा और विश्वास की सुन्दर मूर्तियों को प्रतिष्ठित करो। तुम अभी से सफलता के दिव्य संस्कारों को अपने हृदय में स्थान दो। भविष्य में अवश्य सफलता तुम्हारे आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी।"

यदि हमारे होनहार बच्चे उपरोक्त भावनाओं को अपने हृदय के साथ मिलाते जावें तो मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि, हमारी सभ्यता में बड़ा ही विलक्षण परिवर्तन हो जायगा। हमारे जीवन की उच्चता में अपूर्व वृद्धि होगी। जहाँ हमने अपने मन को इस प्रकार संस्कृत किया कि हमें वह शक्ति प्राप्त होगी जिससे हम आलस्य, अहङ्कार, प्रमाद, अकर्मण्यता, आदि उन सहस्र-सहस्र शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेंगे, जो हमारी शान्ति को, सुख को, शक्ति को और सफलता को लूटने वाले हैं।"

एक दूसरे विद्वान का कथन है:—"उन नवयुवकों को जो

देश के भविष्य के आधार स्तम्भ हैं, निष्काम कर्म करने का खूब अभ्यास करना चाहिए।"

"कर्म्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

गीता के इस वाक्य का उन्हें पूर्ण मनन करना चाहिए परवाह नहीं यदि उन्हें अपने कार्य्य का बदला नहीं मिल रहा है, परवाह नहीं यदि वे अपने कार्य्य में असफल हो रहे हैं, परवाह नहीं यदि उनके मार्ग में लाखों कण्टक आ रहे हैं, परवाह नहीं यदि सारा जमाना उनके खिलाफ़ हो रहा है। इन सब बातों की ओर से विरक्त रहकर उन्हें अपना कार्य करते रहना चाहिए। यदि वे शुद्ध विचारों से कार्य्य कर रहे हैं, यदि उनका अन्तःकरण समाज की सच्ची सेवा करने में व्यग्र है तो निश्चय है कि उन्हें एक न एक दिन अवश्य सफलता मिलेगी।

भविष्य में अपने जीवन को नैतिक बनाने वाले युवकों के लिए जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार उपरोक्त विद्वानों के कथनों का मनन करना भी आवश्यक है, जो युवक पूर्ण ब्रह्मचर्य्य के तेज के साथ इस प्रकार के विचारों को लेकर कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं, अवश्य संसार उनका सम्मान करता है। और वे संसार और समाज की सेवा के साथ २ अपने अपने स्वार्थ की भी बहुत कुछ सिद्धि कर लेते हैं। यही अवस्था नैतिक जीवन की पहली सीढ़ी है। नैतिकता का वास्तविक आरम्भ यहीं से होता है।

ब्रह्मचर्य्य अवस्था में मनुष्य अपनी शक्तियों का जितना

विकास कर सकता है उतना किसी दूसरी अवस्था में नहीं कर सकता। इस अवस्था में मनुष्य के अन्दर एक विलक्षण प्रकार का तेज और उत्साह रहता है। ब्रह्मचर्य्य के प्रताप से उसका चेहरा सूर्य्य की तरह दमकने लगता है। उसके ललाट पर एक विलक्षण प्रकार की आभा दृष्टिगोचर होने लगती है। ब्रह्मचारी मनुष्य की शक्ति इतनी विस्तृत रहती है, उसकी प्रतिभा इतनी विलक्षण रहती है कि वह अपनी शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली मनुष्य को सहज ही में परास्त कर सकता है। जब रामचन्द्र के विरुद्ध रावण की ओर से मेघनाद लड़ने को प्रस्तुत हुआ, उस समय रामचन्द्र के लोगों में बड़ी चिन्ता फैल गई। इतने बड़े वीर को कौन मार सकता है? सब लोगों के छक्के छूट गये। उस समय वही वीर खड़ा हो सकता था जिसके चेहरे पर ब्रह्मचर्य्य का तेज हो। जिसकी शक्तियाँ ब्रह्मचर्य्य के प्रताप से विकसित हो रही हों। अन्तमें पूर्ण ब्रह्मचारी लक्ष्मण खड़े हुए और उन्होंने उसका वध किया। परशुराम के समान विख्यात वीर को जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दी थी, पराजित करने में बालब्रह्मचारी भीष्म के सिवा कौन समर्थ हो सकता था।

मनुष्य की ब्रह्मचर्य्यावस्था उसके नैतिक जीवन के विकास की प्रथम सीढ़ी है। बिना ब्रह्मचर्य्य का पूर्ण पालन किये मनुष्य पक्का कर्मयोगी नहीं हो सकता। साहस, निर्भयता, आत्म-

संयम आदि धाराएं ब्रह्मचर्य्य रूपी पहाड़ से ही प्रवाहित होती हैं।

जो व्यक्ति अपने जीवन को नैतिक बनाना चाहते हैं, जो भविष्य में कर्मयोगी बनकर देश और समाज की सेवा करना चाहते हैं, उनके लिए ब्रह्मचर्य्य की उतनी ही आवश्यकता है जितनी उत्तम खेती करने के लिए शुद्ध जमीन की। विना शुद्ध ब्रह्मचर्य्य का पालन किये मनुष्य कभी अपना नैतिक विकास नहीं कर सकता। इसलिए समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का एक नियमित उम्रतक ब्रह्मचारी रहना आवश्यक है।

बालशिक्षा शैली

पूर्व अध्याय में हम ब्रह्मचर्य्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कह चुके हैं कि, ब्रह्मचर्य्य मनुष्य के नैतिक जीवन की पहली सीढ़ी है, इसी अवस्था में मनुष्य अपने को देश और समाज के अनुकूल बना सकता है। इस अध्याय में हम यह बतलाना चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य्य पालन करनेवाले बालकों की शिक्षाशैली किस प्रकार की होनी चाहिए, क्योंकि, बिना शिक्षा के मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो।

वास्तविक शिक्षाशैली का विवेचन करने के पूर्व हम आधुनिक शिक्षाप्रणाली पर एक सरसरी निगाह डालना उचित समझते हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने उसकी वास्तविकता प्रत्यक्ष हो जाय।

हम देखते हैं कि प्रति वर्ष सैकड़ों हजारों विद्यार्थी कालेज रूपी विद्यामन्दिरों से सैकड़ों हजारों ग्रन्थों का सार अपने मस्तिष्क में रखकर संसार के अन्दर प्रविष्ट होते हैं। लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि इतना विद्याध्ययन कर लेने पर भी उनके हृदय में नैतिकता की भावना जागृत नहीं होती। वे अब

भी उतने ही भीरु, शंकाशील, और अकर्मण्य होते हैं जितने कालेज में भरती होने के पूर्व। इस प्रकार की विद्या में धुरन्धर कर विद्यार्थियों को संसार में भेजने से क्या लाभ हो सकता है। जब कि वे अपने आत्म-विश्वास और निश्चय को भी ठीक २ व्यवहार में नहीं ला सकते। कितने नवयुक कालेजों में से ऐसे निकलते हैं जो छाती पर हाथ रखकर साहसपूर्वक इस बात को कह सकते हैं कि, हमारी आत्माएँ हमारी हैं, कितने नवयुवक ऐसे निकलते हैं जो देश और जाति के लिए कुछ त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं। उत्तर में "नहीं" के सिवाय और कह ही क्या सकते हैं। शिक्षा की इस दुर्व्यवस्था को देखकर हम कह सकते हैं कि, निश्चय इसमें कोई कमज़ोरी है। और वह कमज़ोरी इतनी भारी है कि उसे दूर किये बिना कभी जीवन में नैतिकता का प्रवेश नहीं हो सकता।

आजकल के स्कूलों और कालेजों में सब से बड़ी कमज़ोरी यही है कि, उनमें विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों पर ध्यान नहीं दिया जाता। महाकवि रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—"आजकल के स्कूलों को यदि हम एक प्रकार की मशीनें समझ लें तो कुछ भी अनुपयुक्त न होगा। मास्टर लोग इन मशीनों के एक प्रकार के पुर्जे हैं। साढ़े दस बजे घण्टा बजाकर कारखाने खुलते हैं, मशीनों का चलना आरम्भ हो जाता है और मास्टरों के मुँह भी चलने लगते हैं, चार बजे कारखाने बन्द होते हैं। मास्टर रूपी पुरजे भी अपने मुँह बन्द कर लेते हैं। तब विद्यार्थी

इन पुरजों की काटी छाँटी हुई दो चार पन्नों को विद्या को लेकर अपने घर लौट आते हैं। इसके बाद परीक्षा के समय इस विद्या की जाँच होती है और उस पर मार्क लगा दिये जाते हैं।"

"यूरोप के विद्यालयों में कम से कम एक विशेषता तो होती है—उनकी समाज के साथ एकता रहती है वे समाज की मिट्टी में से ही रस खींचते हैं और समाज को ही फल देते हैं। किन्तु भारतीय विद्यालयों में यह गुण भी नहीं है, वे समाज के साथ मिले हुए भी नहीं रहते। केवल बाहर से चिपकाये हुए रहते हैं। उनसे हम जो कुछ पाते हैं—दस से लेकर चार बजे तक हम जो कुछ कण्ठस्थ करते हैं, उसका हमारे जीवन के साथ, हमारे समाज के साथ और हमारे घर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हमारे घरों में हमारे माँ बाप भाई बन्धु जो कुछ बातचीत करते हैं, जिन विषयों की आलोचना हमारे घरों में होती है उनका हमारे विद्यालयों की शिक्षा के साथ कुछ भी मेल नहीं रहता। ये विद्यालय हमारे लिए वस्तुएँ तो जुटा देते हैं हमारे हृदय में शिक्षा का कंकाल तो खड़ा कर देते हैं पर उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर सक्ते। हमें वहाँ से प्राणहीन विद्या मिलती है।

इस प्रकार की प्राणहीन विद्या से क्या लाभ? यह तो एक प्रकार का बोझा है, इस घातक शिक्षा के फेर में पड़कर समाज के कितने ही होनहार कोमल पौधे गुलामी के साँचे में ढाल दिये जाते हैं। स्कूल और कालेज रूपी देवी देवताओं पर प्रति-

वर्ष न मालूम कितने ही होनहार पौधों का बलिदान दे दिया जाता है।

यह तो आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का दृश्य हुआ, अब अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली पर भी एक नजर डालना उपयुक्त होगा। पूर्वकाल में जब हम गुरुओं से शिक्षा पाते थे, शिक्षकों से नहीं, जब हम मनुष्यों से ज्ञान प्राप्त करते थे मशीनों से नहीं, उस समय न तो हमारी शिक्षा के विषय इतने विस्तृत और आडम्बरमय ही थे और न उनके साथ हमारी किताबी शिक्षा का विरोध ही था। परन्तु यह भी निश्चय है कि यदि हम उसी स्थिति को समाज में पुनः प्रचलित करना चाहें तो नहीं हो सकती क्योंकि उस समय की स्थिति और आज की स्थिति में बड़ा भेद है।

फिर हमें कौन सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए। हमारी समझ में शिक्षा ऐसे ढङ्ग की होनी चाहिए जो मनुष्य की मनोवृत्तियों के खिलाफ न हो, जो विद्यार्थी को भार रूप मालूम न हो, ऐसी शिक्षाशैली के बनाने में हमें प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा प्रणालियों से जो योग्य तत्त्व मिलें उन्हें ग्रहण करना चाहिये। वास्तविक बात यह है कि हमें विद्यार्थियों के हृदयों पर अधिकार करना चाहिए, जब हमारा उनके हृदयों पर पूर्ण अधिकार हो जायगा तभी हम उन्हें मनमाने ढङ्ग से झुका सकेंगे।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली का संक्षिप्त विवेचन हम पहले कर आये हैं। जहाँ तक विद्यार्थी गुरुओं के पास अध्ययन

करते थे वहाँ तक वे जंगल में निवास करते और पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से रहते थे। आजकल ब्रह्मचर्य्य पालन के स्थान पर नीति का उपदेश देने की पद्धति का आविष्कार हुआ है। आजकल के शिक्षित लोगों का ख़याल है कि कड़वी औषधि के समान नीति के नियमों को पिला देने से ही वास्तविक उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। पर वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह बहुत ही बड़ा भ्रम है। कविवर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं:—

"नीति का उपदेश यह एक विरोधी विषय है, यह किसी भी तरह मनोहर नहीं हो सकता। क्योंकि जिसको उपदेश दिया जाता है वह मानो आसामियों के कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है। और ऐसी अवस्था में या तो वह उपदेश उसका मस्तिष्क लाँघकर चला जाता है अथवा उस पर चोट करता है। इससे केवल हमारा उपदेश देने का प्रयत्न ही व्यर्थ नहीं जाता प्रत्युत इससे कभी कभी महा अनिष्ट भी खड़ा हो जाता है। अच्छी बात को विरस और विफल कर डालना इसके समान हानिकर कार्य्य मनुष्य समाज़ के लिए दूसरा नहीं। नीति के उपदेश के समान गहन और रूक्ष बात बच्चों के कोमल मस्तिष्क में बैठाई जाती है ऐसी असामयिक और अस्वाभाविक बात का भयङ्कर दुष्परिणाम हो तो क्या आश्चर्य? पर हम लोग इस बात को बिलकुल नहीं समझते। अच्छे अच्छे सुशिक्षितों का झुकाव भी इस ओर देखकर बड़ा डर लगता है। जहाँ इस कृत्रिम जीवन-यात्रा में हजारों प्रकार के असत्य विकार

हमारी रुचि को नष्ट किया करते हैं वहाँ किस प्रकार यह आशा की जा सकती है कि, स्कूल के दस से लेकर साढ़े चार बजे तक के थोड़े से समय में एक दो पोथियों के वचन हमारा संशोधन कर डालेंगे, हमारे चरित्र को नीति पूर्ण बना देंगे, इससे और तो कुछ नहीं होता केवल दिखाऊपन की सृष्टि होती है। और इस प्रकार का नैतिक ढोंग जो सब प्रकार के ढोंगों से अधम है—सुबुद्धि की स्वाभाविकता और सुकुमारता को नष्ट कर देता है।"

कविवर के ये वचन कितने मार्मिक और सत्य हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आजकल के स्कूलों में हम देखते हैं कि, नीति के बड़े बड़े वाक्य साइनबोर्डों की तरह स्कूल के कमरों में लटका दिये जाते हैं। लेकिन ये वाक्य विद्यार्थियों के अंतःकरण में नहीं घुसने पाते। बाहर ही से टकरा कर लौट जाते हैं। लेकिन प्राचीन काल के ब्रह्मचर्य्य पालन में यह बात नहीं थी, उस समय जीवन और धर्म की एकात्मता कर दी जाती थी। मनुष्य की अनुकूल प्रवृत्तियों के साथ धर्म का सामञ्जस्य कर दिया जाता था। परिणाम स्वरूप धर्म और जीवन दूध और पानी की तरह मिलकर एकात्ममय हो जाते थे।

अब हम कविवर के ही आधार पर आदर्श विद्यालयों की रचना किस प्रकार होना चाहिए इसका संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

कविवर का कथन है कि, केवल ब्रह्मचर्य्य पालन ही नहीं, इस अवस्था में विश्वप्रकृति की अनुकूलता भी चाहिए। शहर

हमारे स्वाभाविक निवासस्थान नहीं हैं। मनुष्य के काम काजों की जरूरत से ये बन गये हैं। विधाता की कदापि यह इच्छा नहीं है कि, हम जन्म लेकर ईंट, काठ और पत्थरों की गोद में पलकर मनुष्य बनें। हमारे आफिसों और शहरों के साथ फल फूल-पत्र, चन्द्र-सूर्य्य का कोई सम्बन्ध नहीं। ये शहर हमें सजीव और सरस विश्वप्रकृति की छाती से छीन कर उत्तप्त उदर में डाल कर पचा डालते हैं। पर जिन लोगों को इन में रहने का अभ्यास हो गया है और जो काम काज के नशे में विह्वल रहते हैं वे इस शहर निवास में कष्ट का अनुभव नहीं करते। वे धीरे धीरे स्वभाव से भ्रष्ट होकर विशाल जगत से बराबर जुदा होते जाते हैं। किन्तु काम के चक्कर में पड़कर सिर टकराने के पहले अर्थात् सीखने के समय-उस समय जब कि, बच्चों की मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ बढ़ती हैं—उन्हें प्रकृति की सहायता की बहुत ही आवश्यकता होती है। और इसलिए यदि हम आदर्श विद्यालय स्थापित करना चाहें तो हमें मनुष्यों की बस्ती से दूर निर्जन स्थान में, खुले हुए अकाश में और विस्तृत भूमि पर झाड़ पेड़ों के बीच उनकी व्यवस्था करना चाहिए। वहाँ अध्यापकगण एकान्त में पठन पाठन में नियुक्त रहेंगे और छात्रगण उस ज्ञानचर्चा के क्षेत्र में ही बढ़ा करेंगे।

यदि बन सके तो इस विद्यालय के साथ थोड़ी सी फसल की जमीन भी रहना चाहिए। इस जमीन से विद्यालय के लिये प्रयोजनीय खाद्यसामग्री संग्रह की जायगी और छात्र

खेती के काम में सहायता करेंगे। दूध, घी आदि चीजों के लिए गाय भैंसें रहेंगी और छात्रों को गोपालन करना होगा। जिस समय बालक पढ़ने लिखने से छुट्टी पावेंगे तब विश्राम काल में वे अपने हाथ से बाग लगावेंगे। झाड़ों के चारों ओर आलबाल खोदेंगे, उनमें जल सींचेंगे। और बाग की रक्षा के लिए बाढ़ लगावेंगे। इस प्रकार वे प्रकृति के साथ केवल भाव का ही नहीं, काम का भी सम्बन्ध रक्खेंगे।

अनुकूल ऋतुओं में बड़े बड़े २ छायादार वृक्षों के नीचे छात्रों की क्लासें बैठेंगी। उनकी शिक्षा का कुछ अंश अध्यापकों के साथ वृक्षों के नीचे घूमते घामते समाप्त होगा और सन्ध्या का अवकाशकाल, नक्षत्रों की पहिचान में, संगीत-चर्चा में, पुराण-कथाओं में और इतिहास की कहानियाँ सुनने में व्यतीत करेंगे।

कोई अपराध बन जाने पर छात्र अपनी प्राचीन पद्धति के अनुसार प्राथश्चित करेंगे। दण्ड और प्रायश्चित्त में बड़ा भेद है। दूसरों के द्वारा अपराध का प्रतिफल पाना दण्ड है और अपने अपराध का अपने ही द्वारा संशोधन करना प्रायश्चित्त है। छात्रों को इस प्रकार शिक्षा शुरू से ही मिलनी चाहिए कि दण्ड स्वीकार करना खुद ही का कर्तव्य है। उसके स्वीकार किये बिना हृदय की ग्लानि दूर नहीं होती। दूसरों के द्वारा आपको दण्डित करना मनुष्योचित कार्य्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार के विद्यालयों में कृत्रिमता की कोई आवश्यकता

नहीं। टेबिल, कुर्सी, बेञ्च, आदि आडम्बरों की कोई अनिवार्य्य ज़रूरत नहीं। क्योंकि, इनमें एक तो बहुत अनावश्यक अपव्यय हो जाता है, दूसरे विद्यार्थियों का ध्यान स्वाभाविकता की ओर से हटकर कृत्रिमता की ओर चला जाता है।"

कविवर की विद्यालयों सम्बन्धी यह कल्पना उतनी ही दिव्य है जितनी हमारे प्राचीन ऋषियों की। या यों कहिए कि हमारे प्राचीन विद्यालय-सिष्टम का ही यह आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल बनाया हुआ रूप है। सम्भव है कि, आजकल के आडम्बरप्रिय लोगों को विद्यालयों का यह रूप हास्यास्पद और अस्वाभाविक मालूम पड़े, पर निश्चय है, नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के लिए यह कल्पना बहुत ही ऊँची है।

कविवर ने इसी कल्पना के आधार पर बोलपुर में "शान्ति निकेतन" नामक एक आदर्श विद्यालय की स्थापना की है। जिन लोगों ने कविवर के इस विद्यालय को देखा है वे उस पर जी जान से मुग्ध हो गये हैं। इसी प्रकार के विद्यालयों का स्थान स्थान पर होना आवश्यक है। कविवर आजकल के अध्यापकों और इन्स्पेक्टरों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं:—

"जिस जल, स्थल, आकाश, वायु रूप माता की गोद में हमने जन्म लिया है, उसके साथ हमें अवश्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। ऐसा करने से ही हम सच्चे और पूरे मनुष्य बन जावेंगे। बालकों का हृदय जब नवीन रहता है—उनका

कौतूहल जब सजीव होता है और उनकी सारी इन्द्रियों की शक्ति जब सतेज रहती है, तब उन्हें खुले हुए आकाश में जहाँ कि मेघ और धूप खेलती रहती है, खेलने दो। उन्हें इस पृथ्वी माता के आलिङ्गन से वंचित मत करो। सुन्दर और निर्मल प्रातःकाल में सूर्य्य को उनके प्रत्येक दिन का द्वार अपनी ज्योतिर्मय उंगलियों के द्वारा खोलने दो। और सौम्य गम्भीर सन्ध्या को उनका दिवावसान नक्षत्रखचित अन्धकार में चुपचाप निमीलित होने दो। वृक्ष और लताओं के शाखा पल्लवों से सुशोभित नाटकशाला में छह अंकों में छह ऋतुओं का नाना रस विचित्र गीति नाटक का अभिनय उनके सन्मुख होने दो। वे झाड़ों के नीचे खड़े होकर देखें कि, नव वर्षा यौवन राज्यपद पर अभिषिक्त राजपुत्र के समान अपने दल के दल सजल बादल लेकर आनन्द गर्जन करती हुई चिरकाल की प्यासी वनभूमि के ऊपर आसन्न वर्षण की छाया डाल रही है और शरद काल में अन्नपूर्णा धरती की छाती पर ओस से सींची हुई वायु से लहराती हुई, तरह तरह के रंगों से विचित्र और चारों दिशाओं में फैली हुई खेतों की शोभा को अपनी आँखों से देखकर उन्हें धन्य २ होने दो। हे बालकों के रक्षक अभिभावक गण! तुम अपनी कल्पनावृत्ति को चाहे जितनी निर्जीव और अपने हृदय को चाहे जितना कठिन बनालो, परन्तु दोहाई तुम्हारी, यह बात कम से कम लज्जा के खातिर ही मत कहना कि, बालकों को इनकी कुछ आवश्यकता नहीं

है। अपने बच्चों को इस विशाल विश्व में रखकर विश्वजननी के लीलास्पर्श का अनुभव करने दो। तुम्हारे इन्स्पेक्टरों के मुलाहिजों और परीक्षाओं के प्रश्नपत्रों की अपेक्षा यह कितना उपयोगी है, इसका भले ही तुम अपने हृदय में अनुभव न कर सकते हो, तो भी बालकों के कल्याण के लिए तो इसकी बिलकुल उपेक्षा न करो।"

मानों कविवर कल्पना के आवेश में पागल हो गये हैं। वास्तव में देश के जीवन को पूर्ण नैतिक बनाने के लिये इसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। केवल किताबी ज्ञान से नैतिकता का विकास नहीं हो सकता।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश

ब्रह्मचर्य्यावस्था में उचित ज्ञान को प्राप्त कर, अनेक उत्तम भावनाओं को हृदयङ्गम कर, नाना प्रकार की जिम्मेदारियों का भार ग्रहण कर मनुष्य गृहस्थाश्रम रूपी कर्मभूमि में अवतीर्ण होता है। गृहस्थाश्रम मनुष्य के लिए ऐसा परीक्षास्थल है जहाँ पर उसके ज्ञान की, उसकी नीतिमत्ता की, उसके चरित्र की और उसके उत्साह की परीक्षा होती है। यदि वह इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है, यदि वह इस तेज आँच से बेदाग बचकर निकल जाता है, तो फिर तपाये हुए लाल सोने की तरह चमकने लगता है।

हमारे प्राचीन शास्त्रों में चारों आश्रमों की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि गृहस्थाश्रम इन चारों आश्रमों से अधिक कठिन आश्रम है। यदि मनुष्य इस आश्रम से अपना कर्तव्य पालन करता हुआ—बेदाग निकल जाता है तो फिर उसके लिए मुक्ति का मार्ग सहज हो जाता है। इसी आश्रम रूपी परीक्षास्थल में आकर लाखों मनुष्य तबाह हो जाते हैं। वे इसके भँवर में पड़कर संसार सागर में गोते लगाने लगते हैं। एक विद्वान ने लिखा है कि गृहस्थाश्रम का मार्ग तलवार की

धार के समान है। जो आदमी पूर्ण बहादुरी के साथ इस आश्रम को पार कर जाता है वही सब से बड़ा वीर है। इस आश्रम से डर कर जो लोग वानप्रस्थाश्रम या सन्यस्थाश्रम में प्रवेश कर जाते हैं, वे भी उस वीर के बराबरी का आसन प्राप्त नहीं कर सकते।

इस आश्रम में प्रवेश करते ही मनुष्य के सम्मुख कई नूतन कार्य्य उपस्थित हो जाते हैं। कई प्रकार के मोह उत्पन्न करनेवाले पदार्थ उसके सम्मुख उपस्थित हो कर उसे भटकाने की कोशिश करते हैं। एक ओर सत्यवृत्ति खड़ी रहती है, दूसरी ओर कुप्रवृति उसे खींचने का प्रयत्न करती है। एक ओर स्वार्थ अपना पालिशदार रूप बतला कर उसे मुग्ध करने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर कृतज्ञता दीनता के साथ उसे उस ओर जाने से मना करती है। एक ओर मोह कई प्रलोभनों के द्वारा उसे आकर्षित करने की चेष्टा करता है। दूसरी ओर ज्ञान उसे उधर जाने से रोकता है। एक ओर परोपकार उसे पुण्यकार्य्य करने के लिये उत्साहित करता है दूसरी ओर अहङ्कार उसके मार्ग में रोड़े अटकाता है। मतलब यह कि उसका हृदय इस समय कई प्रकार की प्रवृत्तियों का युद्ध-स्थल बन जाता है। प्रकृति बहुत ही भयंकर रूप से उसकी परीक्षा लेती है। यदि ऐसे कठिन समय में ज्ञान के ज़ोर से वह इन सब प्रवृत्तियों से युद्ध करता रहा और उनमें किसी की भी कमी वेशी न होने देकर प्रवृत्तियों को साम्यावस्था में रखता रहा एवं निष्काम

होकर अपनी जिम्मेदारियों को पूरी करता हुआ जीवन-संग्राम में अग्रसर होता रहा तब तो वह निस्सन्देह सफलता प्राप्त कर जगत में पूजनीय हो जायगा। पर यदि इस भयङ्कर संग्राम में ज़रा सा भी फिसल गया यदि वह उस पहाड़ की किनार से ज़रा सा भी चूक गया तो निश्चय है कि, भयङ्कर गर्त में गिर जायगा।

बहुत ही कम भाग्यवान ऐसे निकलते हैं जो इस भयङ्कर परीक्षा-स्थली से निष्कलङ्क निकल जाते हैं। बाकी प्रायः सब लोग इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर प्रकृति के इस जंजाल में घूमा करते हैं। जिस समाज में दैवी सम्पद का आधिक्य होता है उसमें फिर भी ऐसे भाग्यवान गृहस्थ नज़र आते हैं। पर आसुरी सम्पद युक्त समाज में तो ऐसे लोगों का मिलना बहुत ही कठिन है।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य को पूर्ण कर्मयोगी बनना पड़ता है। जो ऊँची श्रेणी का कर्मयोगी होगा वही सच्चा गृहस्थ भी हो सकता है। तपस्या करना इसकी अपेक्षा सहल है क्योंकि उसमें ऊँची श्रेणी के त्याग की आवश्यकता नहीं होती। उसमें अपनी आत्मा के विकास की कुछ स्वार्थभावना भी रहती है, पर गृहस्थाश्रम में तो ऊँचे दर्जे के त्याग के साथ निष्कामकर्म करना पड़ता है। एक कविने कहा है:—

> जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
> आत्मार्थी है, न कह सकते आत्मत्यागी उसे हैं।

जी से प्यारा जगतहित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।

प्रकृति की भी बड़ी विचित्र लीला है। एक ओर जहाँ उसने गृहस्थाश्रम को इतना भयङ्कर बना रक्खा है वहाँ दूसरी ओर उसने इस आश्रममें इतना अधिक सौन्दर्य्य और माधुर्य्य रख दिया है कि व्यक्ति इस लोभ को भी संवरण नहीं कर सकता है, उसे इस परीक्षा में शामिल होना ही पड़ता है। यही नहीं, वह बहुत खुशी से उसका स्वागत भी करता है। वह उसे भयङ्कर समझ कर नहीं अपनाता प्रत्युत सुन्दर समझकर ही ग्रहण करता है। कुछ लोग ऐसें भी होते हैं जिन्हें इस आश्रम की अन्धियारी बाजू नजर आ जाती है, और वे इसमें पैर डालने का साहस ही नहीं करते। और वानप्रस्थ और सन्यस्थाश्रम को ग्रहण कर लेते हैं। पर हमारे धर्म-शास्त्रों में इस प्रकार डर कर अलग होने वाले मनुष्यों को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। हमारे धर्म शास्त्रों में उन्हीं इने गिने अलौकिक महापुरुषों को महत्व दिया गया है, जो इस आश्रम की कठिनाइयों को जानते हुए भी साहस पूर्वक उसमें प्रवेश करते हैं। और कर्मयोगी राजा जनक की तरह जल कमल वत उससे अलग रहते हुए वीरता पूर्वक सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर उससें पार हो जाते हैं।

इस आश्रम के कर्तव्यों का और मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति का बहुत सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् हमारे पूर्वजों

ने कुछ ऐसे उच्च तत्त्व निकाले हैं कि, यदि मनुष्य नियम पूर्वक उन तत्वों का पालन करता हुआ आगे बढ़ता जाय तो अवश्य पार हो सकता है। थोड़ा सा आत्म-संयम रखने से ही उसकी मुश्किलें आसान हो सकती हैं।

गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही मनुष्य को बहुत ही शीघ्र एक बड़ी भारी जिम्मेदारी ग्रहण करना पड़ती है। यह जिम्मेदारी जितनी ही कठिन है उतनी ही सुखद है, जितनी ही कठोर है उतनी ही कोमल है। जितनी ही भयङ्कर है उतनी ही मधुर है। इस ज़िम्मेदारी से मनुष्य स्वर्ग का आनन्द भी भोग सकता है और नरक की भयङ्कर यन्त्रणा भी। वह जिम्मेदारी आजकल—

विवाह

के नाम से कही जाती है। विवाह क्या है? गार्हस्थ्य मन्दिर में प्रवेश करके अपने गार्हस्थ्य धर्म को सुख पूर्वक निबाहने के लिए मनुष्य को एक और सहायक की आवश्यकता होती है। पुरुष जाति की इस सहायता के निमित्त प्रकृति ने स्त्री जाति की सृष्टि की है। इससे दो लाभ एक साथ सम्पन्न होते हैं। एक तो पुरुष स्त्री की सहायता से और स्त्री पुरुष की सहायता से अपने गृहस्थ धर्म को सुचारु-रूप से पालन कर सकते हैं। दूसरे अपने स्थान पर अपने ही समान एक जोड़ा और उत्पन्न करके वे सृष्टि चक्र को चलाने में भी सहायता पहुँचाते हैं। स्त्री और पुरुष के इसी शास्त्रोक्त सम्बन्ध को विवाह कहते हैं।

विवाह का वास्तविक अर्थ बहुत ही पवित्र है। विवाह मन्दिर के अन्दर अग्नि को साक्षी रख कर दम्पत्ति उन प्रतिज्ञाओं को करते हैं जिन पर समाज की और संसार की शान्ति निर्भर है। सुन्दर ब्रह्मचर्य्य के तेज से सम्पन्न पुरुष, एक सुशील, सुन्दर, सुशिक्षित कन्या का हाथ अपने हाथ में लेकर उस उत्तरदायित्व को निभाने की प्रतिज्ञा करता है जो प्रकृति की ओर से उसे मिलता है। विवाह के द्वारा वह प्रेम की उस पहली सीढ़ी पर चढ़ता है जो क्रमशः उसे मुक्ति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचा देती है।

कुछ लोग इस स्थान पर यह आपत्ति करते हैं कि, जहाँ पर स्वाभाविक प्रेम है वहाँ पर विवाह के आडम्बर की क्या आवश्यकता है? उस निःसीम, शुद्ध, सरल प्रेम पर विवाह का संकीर्ण वन्धन डालने की क्या ज़रूरत है?

इस प्रश्न का उत्तर हम मनोविज्ञान के उसी साधारण सिद्धान्त के द्वारा दे सकते हैं जो हमें मनुष्य की सत्प्रवृत्ति और कुप्रवृत्ति दोनों के अस्तित्व को बतलाता है। प्रकृति ने जहाँ दाम्पत्य प्रेम की ऊँची मर्यादा बनाई है वहाँ एक ऐसी कुप्रवृत्ति को भी अस्तित्व दिया है कि, जिसके फेर में पड़कर भयङ्कर अनिष्ट होने की भी सम्भावना है। हम पहले कह आये हैं कि विवाह के अनेक उद्देश्यों में से सन्तानोत्पत्ति भी एक प्रधान उद्देश्य है। पुरुष के वीर्य्य और स्त्री के रज के संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है। प्रकृति ने इस संयोग के अन्दर

एक ऐसा विलक्षण आनन्द रख दिया है कि जिससे मनुष्य उन्मत्त सा हो जाता है। इस तामसी आनन्द से उसकी कुप्रवृत्ति जागृत हो जाती है और इस कुप्रवृत्ति की जागृति होने से समाज में अशान्ति मच जाती है। इसी कुप्रवृत्ति को संयत करने के लिए, समाज की इस भयङ्कर विपत्ति से रक्षा करने के लिए विवाह की सृष्टि हुई है। यदि विवाह न होता, यदि मनुष्य की इस कुप्रवृत्ति (काम-लिप्सा) पर कर्तव्य की लगाम न लगा दी जाती तो मनुष्य मत्त भ्रमर की तरह सारे समाज के अन्दर अनाचार और अत्याचार का तहलका मचा देता।

इस विषय में स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के विचार बहुत ही मनन करने योग्य हैं। वे लिखते हैं:—

"कामोपासक कवि-गण विवाह पदार्थ को निश्चय ही अत्यन्त गद्यमय समझते हैं। मानों विवाह स्वर्गीय प्रेम में एक प्रकार की बाधा है। उनके मत में विवाह एक अति अनावश्यक झंझट है, वे सोचते हैं कि, काव्य में विवाह के लिए स्थान नहीं है।"

"इसमें सन्देह नहीं कि, Platonic Love में विवाह का प्रयोजन नहीं है। कारण उसके भविष्य इतिहास का अंत उस प्रेम ही में है। किन्तु जहाँ यौनमिलन (सहवास) है, वहाँ विवाह एक ऐसा कार्य्य है जो सर्वथा अपरिहार्य्य है। जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता। विवाह के बिना यह मिलन

एक पशुओं की क्रिया मात्र ठहरता है। विना विवाह के पवित्र प्रेम-पदार्थ भी कर्तव्य-ज्ञानहीन कामसेवा का रूप धारण कर लेता है। विवाह बतला देता है कि यह मिलन केवल आज ही भर का नहीं है। यह क्षणिक सम्भोग नहीं है। इसका एक भारी भविष्य है, यह चिर जीवन का मिलन है। विवाह समझा देता है कि नारी केवल भोग का ही पदार्थ नहीं है वह सम्मान के योग्य है। विवाह-संस्कार घर में सुख का फुहारा है, सन्तान के कल्याण का कारण है और सामाजिक मंगल का उपाय है इसके ऊपर केवल व्यक्ति की ही शान्ति निर्भर नहीं है सम्पूर्ण समाज की शान्ति भी इसके ऊपर है। विवाह ही कुत्सित काम को सुन्दर बनाता है, उद्दाम प्रवृत्ति के मुँह में लगाम देकर उसे संयत करता है और विश्व की सृष्टि को स्वर्ग की ओर खींचकर ले जाता है। पशुओं में विवाह नहीं है, असभ्य जातियों में विवाह नहीं है, सभ्यता का फल है, यह कुसंस्कार नहीं है, कूड़ा करकट नहीं है, विपत्ति नहीं है" कुछ कामोपासक कवियों को छोड़कर संसार के प्रायः सभी महापुरुषों ने विवाह को अपरिहार्य्य समझा है। वे जानते थे कि, कर्तव्यज्ञान से रहित लालसा सुन्दर नहीं कुत्सित है चन्द्र, आकाश, फूल आदि संसार के कई पदार्थ सुन्दर हैं पर मनुष्य के अन्तःकरण के सौन्दर्य्य के आगे ये सभी सौन्दर्य्य फीके हो जाते हैं। कर्तव्यज्ञान से बढ़कर सुन्दर और क्या पदार्थ है? यह कर्तव्य-ज्ञान लालसा को भी चमका देता है। और वीभत्स

काम को भी सुन्दर बना देता है। विवाह-हीन लालसा बहुत ही कुत्सित है, भयङ्कर है।

मनुष्य के हृदय सागर से एक ही साथ दो भिन्न भिन्न धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। एक धारा लालसा की होती है दूसरी प्रेम की। स्वाभाविकतया सांसारिक मनुष्य में लालसा की धारा ही अधिक प्रबल रहती है। विवाह के द्वारा इसी लालसा की धारा को प्रेम की ओर मोड़ दिया जाता है। लालसा की वह धारा जो विवाह के पूर्व कई उपशाखाओं में बहती रहती है विवाह होते ही एक स्थान पर जाकर स्थिर हो जाती है। मनुष्य समझ लेता है कि, अब मेरा सुख, दुःख, भूत, भविष्यत् सब इसी एक स्थान पर जमा है। वह पतित्व के धर्म को समझता है। निश्चिन्त होकर वह सुखपूर्वक अपने देश और जाति की सेवा में तन्मय हो जाता है। पत्नी भी अपने पत्नीत्व के धर्म को समझ जाती है। जब समाज-सेवा और आजीविका के परिश्रम से क्लान्त होकर पुरुष अपने घर पर आता है तब स्त्री अपनी सुन्दर सेवा से उसके चित्त को शान्त कर देती है, अपने मधुर वचनों की निर्मल धारा से वह उसके शुष्क हृदय को पुनः हरा कर देती है।

जहाँ इस प्रकार सन्तोष, शान्ति और स्नेह की निर्मल धाराएँ बहती रहती हैं वहाँ पाप कैसे प्रवेश कर सकता है? ऐसे छिद्र-हीन किले में अनीति किस प्रकार घुस सकती है। पाप भी जिस स्थान पर जाकर पुण्य हो जाता है, लालसा भी

जहाँ जाकर प्रेम का रूप धारण कर लेती है, वह जीवन कितना उन्नत और नैतिक होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

यहाँ तक तो हमने वैवाहिक जीवन की महत्ता और उसके स्वर्गीय परिणाम का दिग्दर्शन करवा दिया। लेकिन यही विवाह जब विना नियमों के—विना उसके तत्त्व को समझे हो जाता है तब उसका अत्यन्त भयङ्कर परिणाम होता है। इसी प्रकार का विवाह आजकल हिन्दू-समाज में प्रचलित है और उसका जो भयङ्कर परिणाम हो रहा है वह भी सब की आँखों के सामने है। हमारा वैवाहिक जीवन कितना नष्ट हो चुका है, नैतिकता से वह कितना दूर जा पड़ा है इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन अप्रासङ्गिक होने पर भी संक्षिप्त में हम यहाँ करेंगे।

हमारा आधुनिक वैवाहिक जीवन

जो विवाह गार्हस्थ्य जीवनका एक बहुत बड़ा कर्तव्य है, जिस विवाह से मनुष्य जीवन की बहुत सी कठिनाइयाँ हल हो जाती हैं, जो विवाह प्रेम-तत्त्व को समझाने की कुंजी है, जो विवाह जाति का भूषण है, सभ्यता का द्योतक है, वही विवाह जातीयता विहीन और आसुरी सम्पद प्रधान समाज में कितना भयङ्कर रूप धारण कर लेता है इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हमारी आधुनिक हिन्दुसमाज में स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होते हैं। जिन प्राचीन आर्य्य ऋषियों ने अपने गहरे अध्ययन के पश्चात इस विवाह रत्न को ढूँढ़ निकाला था और इसके द्वारा हमारे समाज में स्थायी शान्ति स्थापित कर दी थी, उन्हीं की सन्तानों ने हमने इस तत्त्व का कितना दुरुपयोग कर डाला है। विवाह तत्व की इस दुर्दशा को देखकर तो हमें यही कहना पड़ता है कि, इससे तो यही अच्छा था कि विवाह प्रथा ही हमारे समाज में न होती।

इसी भयङ्कर विवाह-प्रथा के कारण हमारे समाज में त्राहि त्राहि मची हुई है। हमारा सामाजिक वायुमण्डल जेठ की दुपहरी की तरह धाँय धाँय जल रहा है। लाखों बाल विधवाओं की गर्म आहों से सारे समाज के अन्दर भयङ्कर अग्नि जल रही है। सारे समाज में वैवाहिक अत्याचार की एक भयङ्कर भट्ठी सुलग रही है। लाखों दुधमुहे बालक और बालिकाएं उस भट्ठी में झोंक दिये जाते हैं। विवाह-मन्दिर रूपी कसाई खानों में बालक और बालिकाएँ बलिदान के लिए लाई जाती हैं। पुरोहित बलिदान के मन्त्र पढ़ते हैं बाप छुरी तानकर खड़ा हो जाता है, माँ गर्दन पर तेल मलती है और पवित्र मन्त्रों के साथ साथ पुण्य रूप देकर बलिदान दे दिया जाता है।

आठ आठ वर्ष के बालक और बालिकाएं, जो यह भी नहीं समझते कि विवाह क्या वस्तु है? जो यह भी नहीं जानते कि दम्पति-धर्म क्या वस्तु है, बिना जाने बूझे एक ज़बर्दस्ती के बन्धन में बान्ध दिये जाते हैं। उनकी सारी अविकसित शक्तियाँ विकास होने के पूर्वही कुचल दी जाती है। उनका उत्साह, उनकी मनोभावनाएँ, उनका तेज सब विवाह की दहकती हुई भट्ठी में झोंक दिये जाते हैं। एक लेखक ने लिखा है:—

"हमारे बालकों में क्षात्र तेज है, उत्साह की उमंग है, वज्र की सी दृढ़ता है, वे सब कुछ कर सकते हैं यदि प्रति वर्ष लाखों और हजारों की संख्या में विवाह की वेदी पर उनका बलिदान न किया जाय।"

हिन्दू जाति में विवाहतत्व की जितनी दुर्गति हुई है शायद किसी भी समाज में उतनी दुर्गति न हुई होगी। हमारा ही समाज वह समाज है जहाँ पर साठ साठ वर्ष के बुड्ढों के गलों में दस वर्ष की बालिकाएं बाँध दी जाती हैं। हमारा ही समाज वह समाज है जहाँ पर सोलह वर्ष की लड़कियाँ दस दस वर्ष के लड़कों के साथ बाँध दी जाती हैं। हमारा ही समाज वह समाज है जिसमें पाँच पाँच वर्ष की हजारों विधवाएँ नज़र आती हैं। हमारा ही समाज ऐसा समाज है जहाँ पर अच्छे अच्छे होनहार शिक्षित युवकों के गले में फूहड़ लड़कियाँ और सुशील शिक्षित लड़कियों के गले में मूर्ख लड़के बाँध दिये जाते हैं। कोई भी अत्याचार ऐसा नहीं जो विवाह के नाम पर इस समाज में न होता हो। कोई भी पाप ऐसा नहीं जिसे विवाह के नाम पर हमारा समाज न करता हो।

हम लोग स्त्रियों के उत्तम आदर्श को भूल कर उन्हें भोग की सामग्री मात्र समझने लग गये हैं। हम उन पर मनमाने अत्याचार करने लग गये हैं। पुरुष अपनी स्त्री के मरने पर सात २ विवाह कर सकते हैं मगर स्त्री विधवा होने पर फिर चाहे वह पाँच ही वर्ष की क्यों न हो, फिर विवाह करने की अधिकारिणी नहीं रहती। जिस समाज में वैवाहिक जीवन का इतना नाश हो गया हो, जो समाज मनुष्यत्व से इतना दूर जा पड़ा हो, उसका यदि इतना पतन हो जाय तो क्या आश्चर्य्य है?

जोश से बेक़ाबू होकर अप्रासङ्गिक स्थान पर इतना लिख

गये इसके लिए पाठक हमें क्षमा करें। हमारा मतलब केवल इतना ही है कि, वैवाहिक जीवन जहाँ एक ओर समाज में स्वर्गीय धाराएँ बहाता है, वहाँ नरक की दारुण वैतरणी भी प्रवाहित करता है।

गृहस्थ परले सिरे का कर्मयोगी होता है

हम पहले बार २ लिख आये हैं कि गृहस्थ कर्मयोगी होता है, वह चाहे तो उसका मलिन ढङ्ग से उपयोग करे, चाहे उज्वल ढङ्ग से, पर उपयोग करता अवश्य है। कर्म हर एक मनुष्य को करना ही पड़ता है पर कोई सकाम ढङ्ग से कर्म करता है कोई निष्काम ढङ्ग से। निष्काम ढङ्ग का कर्म उत्तम श्रेणी का कर्मयोग है और सकाम कर्म निम्न श्रेणी का। सकाम कर्मयोग से मनुष्य न तो समाज के उत्तरदायित्व को ही पूरा कर सकता है और न ज्ञान योग में प्रविष्ट होने का मार्ग ही बना सकता है।

इसलिए जीवन को नैतिक बनाने के लिए निष्काम कर्मयोग की बड़ी भारी आवश्यकता है। इस कथन का यह मतलब नहीं है कि गृहस्थ व्यवहार ज्ञान को बिलकुल ही छोड़ दे, या सकाम कर्म को बिलकुल ही त्याग दे, नहीं, सकाम कर्म को छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं, रास्ते से भटकने की कोई जरूरत नहीं, उसी रास्ते से सकाम कर्म के बीच होकर

ही धीरे धीरे निष्काम कर्म की ओर बढ़ते जाने की जरूरत है, व्यक्तिगत स्वार्थों को भूलने की कोई आवश्यकता नहीं पर उस स्वार्थ की सिद्धि का प्रयत्न भी इसलिए करना चाहिए कि भविष्य में उससे जातिगत स्वार्थ में मदद मिलेगी। जातिगत स्वार्थ को व्यक्तिगत स्वार्थ की वेदी पर बलि दे देना बड़ा भारी सामाजिक पाप है। इस सामाजिक पाप से प्रत्येक नैतिक जीवन व्यतीत करनेवालों को बचना चाहिए।

अब हम गृहस्थाश्रम के उन थोड़े से तत्वों पर विचार करेंगे जो नैतिक जीवन व्यतीत करनेवालों के लिए उपयोगी है।

दूसरा–खण्ड

(१)

सुख की परिभाषा

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है। क्या योगी और क्या भोगी, क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी, क्या मनुष्य और क्या देवता मतलब यह कि, जगत के सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं। इसी सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक विपरीत कार्य्यों को करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। इसी सुख को प्राप्त करने के लिए कोई धन को इकट्ठा करता है और कोई भयङ्कर गिरिगह्वरों में जाकर तपस्या करता है। कोई वेश्याओं के विलास-मन्दिर में सुख की खोज में भटकते हैं तो कोई इसी सुख की खोज में रणाङ्गण के मैदान में जाकर मृत्यु को गले लगाता है। इसी सुख के लिए महा-भारत के मैदान में भाई भाई जूझ गये। इसी सुख की प्राप्ति के निमित्त जयचन्द्र राठोड़ ने देश का सर्वनाश कर दिया।

सुख साधारणतया दो प्रकार का होता है, एक पाशव और दूसरा मानव।

(१) विना किसी प्रकार का लक्ष्य रक्खे हुए आहार, निद्रा, मैथुन आदि से जो अनुकूल वेदना उत्पन्न होती है उसे पाशव सुख कहते हैं। इस सुख में पशु, या पशु की विशेषता रखनेवाले मनुष्य रमा करते हैं।

(२) किसी लक्ष्य की सिद्धि में सहायता मिलने से मनुष्य हृदय में जो अनुकूल वेदना उपस्थित होती है उसे मानव सुख कहते हैं। इस सुख में मनुष्य और मनुष्यों की विशेषता रखने वाले प्राणी रमते हैं।

मानव सुख के भी लक्ष्य के हिसाब से तीन-भेद हैं (१) सात्विक (२) राजसिक और (३) तामसिक। बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होनेवाला सुख सात्विक, इन्द्रिय और उनके विषयों से होनेवाला सुख राजसिक और प्रमाद से प्राप्त होने-वाला सुख तामसिक सुख कहा जाता है।

मानवीय सुख की सिद्धि के लिए साधारणतया चार बातों की नितान्त आवश्यकता है। (१) सुसाध्य आजीविका (२) शान्ति (३) स्वतन्त्रता और (४) पौरुष।

वास्तविक सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब हम अपने व्यक्तित्व को समाज के व्यक्तित्व में लीन कर दें। हम अपनी रक्षा की चिन्ता को छोड़कर समाज-रक्षा की चिन्ता करें। समाज यदि हमारे उद्योग से फलने फूलने लगेगा तो यह हो

नहीं सकता कि हम कोरे रह जायँ अवश्य हमारी भी सब आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। जड़ में यदि पानी सींचा जायगा तो वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं सूख सकता। सुख का सबसे बड़ा साधन यही है। नैतिक जीवन का आदर्श भी यही है।

यदि हमारे समाज में दस आदमी भूखों मर रहे हैं तो हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम बढ़िया बढ़िया भोजन करें, यदि हमारे समाज पर किसी बाहरी शत्रु का आक्रमण हो रहा है तो हमें कोई अधिकार नहीं कि हम कायरों की भाँति घरों में घुस जायँ। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को हम अपना अङ्ग समझें, उसकी पीड़ा को हम उतना ही महत्व दें जितना अपने अङ्ग की किसी पीड़ा को देते हैं।

नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में मन्त्र की तरह उपरोक्त भावनाओं की झनकार गूँजना चाहिए। तभी वह अपने को और समाज को सच्चा सुखी कर सकता है।

---

(२)

देशभक्ति और कर्मयोग

ऊपर कहा जा चुका है, कि व्यक्तिगत हित की उपेक्षा कर जातिगत हित की रक्षा करने से ही व्यक्तिगत और सामाजिक

सुख प्राप्त हो सकता है। लेकिन प्रश्न यह है कि, इस प्रकार की भावना मनुष्य हृदय में किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है। मनुष्य को जहाँ तक कोई हृदय के अनुकूल कार्य्य नहीं मिलता जहाँ तक उसे उसमें अपने और समाज की स्वार्थसिद्धि के साथ मनोरंजकता दृष्टिगोचर नहीं होती वहाँ तक वह क्यों कर इस प्रकार के रुक्ष कार्य्य करने में प्रवृत्त होगा।

"देशभक्ति" एक ऐसी वस्तु है जिसमें मनुष्य को किसी प्रकार की घबराहट भी नहीं होती, और जो इस रास्ते के द्वारा सहज ही में नियत उद्देश्य पर पहुँच जाता है।

संसार के सभी व्यक्तियों के लिए चाहे किसी भी पथके पथिक क्यों न हो, देशभक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य-विकास के सब मार्ग देशभक्ति में से होकर निकलते हैं।

आर्थोजीविक शास्त्र के अनुसार भी मनुष्य के लिए देश-भक्ति की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि, सामाजिक जीव होने से मनुष्य का अपने समाज से वही सम्बन्ध है, जो अंग का शरीर से और पत्र का वृक्ष से रहता है। जिस प्रकार पत्र को अपने वृक्ष के लिए, अङ्ग को शरीर के लिए कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ता है, और जैसे इनके कर्तव्यच्युत होते ही वृक्ष और शरीर की मिट्टी पलीत हो जाती है, उसी प्रकार समाज के लिए भी व्यक्ति को कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ता है। यदि वह उस त्याग से तनिक भी आँख चुराता है तो समाज की दुर्गति हो जाती है। अतएव सिद्ध हुआ कि

आधीजीविक पक्ष से इस त्याग की समाज की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है इसी त्याग को दूसरे शब्दों में देशभक्ति कहते हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से भी "देशभक्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि देशभक्ति एक बहुत बड़ा परोपकार है। इसी उद्गमस्थान से छोटे २ परोपकारों की कई धाराएं निकलती हैं। अतएव छोटे २ कई परोपकार करने की अपेक्षा एक ऐसा काम कर डालना श्रेयस्कर होता है, जिससे सब परोपकार संगठित हो जाते हैं। जैसे स्थान २ पर अन्न-क्षेत्र खुलवाने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि, देश में सब लोगों के लिए अन्न और जल सुलभ होजायँ। और जिस प्रकार पत्ते २ की रक्षा करने की बनिस्यत यह श्रेष्ठ है कि, सारे ही वृक्ष की जड़ में पानी सींचा जाय इसी प्रकार अनेक छोटे २ परोपकार के कार्य्यों को करने की अपेक्षा देशभक्ति रूपी बड़ा परोपकार करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है।

स्वर्ग के इच्छुक व्यक्तियोंके लिए भी देश भक्ति से बढ़कर और कोई कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि स्वर्ग उन्हीं लोगों को मिलता है जिनका पुण्य संग्रह अधिक होता है। जिस काम से मनुष्य समाज को लाभ पहुँचता है, वही कार्य्य पुण्यकार्य्य कहा जाता है इस प्रकार का पुण्य जिसके पास जितना ही अधिक संगृहीत होता है वह उतना ही अधिक

स्वर्ग में रहता है। अतएव ऐसे लोगों के लिए भी देशभक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है।

कर्मयोग किसे कहते हैं? फल की इच्छा को छोड़कर जो कर्म किया जाता है साधारणतया उसे ही कर्मयोग कहते हैं। इस पर कुछ लोग यह कह सकते हैं कि पागल के सभी काम बिना फल की इच्छा के होते हैं तो क्या वह भी कर्मयोगी कहा जा सकता है? नहीं; यह कर्मयोग नहीं है यह तो अकर्मण्यता है। कर्मयोग ऐसे कर्मों के करने को कहते हैं जिनसे प्राकृत संस्कारों का नाश होवे और नवीन संस्कारों की उत्पत्ति न होने पाय। ऐसा तभी होसकता है जब रजोगुण का ह्रास किया जाय। रजोगुण का ह्रास ऐसे कर्मों से होता है जिनमें त्याग, ओज, और विवेक, का संयोग हो। जहाँ तक उसमें फल की इच्छा रहती है वहाँ तक रजोगुण का नाश नहीं होता। अतः रजोगुण के नष्ट करने के लिए त्याग की अनिवार्य्य आवश्यकता है। किसी प्रकार के फल की इच्छा न होने से वह रजोगुण निराधार होकर स्वयं ही नष्ट हो जाता है। मनुष्य के जिस कर्म में तेज का जितना ही अधिक अंश होता है उतना ही प्राक्तन संस्कारों को नष्ट करने में वह सहायता करता है। निस्तेज कामों से कभी रज का ह्रास नहीं हो सकता, रजोगुण का ह्रास करने के लिये जितनी आवश्यकता त्याग की है, उतनी ही तेज अथवा ओज की है। त्याग और ओज की तरह कर्मयोग में विवेक की भी अत्यन्त आवश्यकता

है। उन्नत मस्तिष्क मनुष्यों का कोई भी कार्य्य चाहे उसमें फल की प्रत्याशा हो या न हो विना उद्देश्य और विधान के नहीं होता। और विना विवेक के उद्देश्य और विधान की वास्तविक पहिचान नहीं हो सकती। इसलिए विवेक शून्यता से किये हुये कामों में कभी कभी बड़ा भ्रम हो जाता है।

जिस प्रकार उत्कृष्ट श्रेणी के कर्मयोग में त्याग, ओज और विवेक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उत्कृष्ट श्रेणी की देशभक्ति में भी इन तीनों तत्वों की अनिवार्य्य आवश्यकता होती है। जब देश और समाज की उदार भावनाएं नष्ट हो जाती हैं, जब जाति का अधःपतन प्रारम्भ होता है, जब धर्म के प्रति ग्लानि समधिगत हो जाने लगती है, जब समाज में अन्याचार की भट्ठी धधकने लगती है, जब साधुओं को कष्ट और दुष्टों को सुख मिलने लगता है, जब योगियों से लेकर भोगियों तक की और राजा से लेकर रङ्क तक की सत्प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब-ऐसे भयङ्कर समय में चलते हुए प्रवाह के प्रतिकूल, समाज की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए, विना किसी प्रकार की फल की आशा से, जाति के भूले हुए उन्मत्त लोगों के विरुद्ध, उद्धार की नाव को संशय रूपी भौंरों से बचाकर निकाल लेजाने में कितने अधिक त्याग की, कितने अधिक ओज की, और कितने अधिक विवेक की आवश्यकता होती है यह कहने की आवश्यकता नहीं इसीसे तो कहा गया है कि देशभक्ति उच्च कोटि का कर्मयोग है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि, प्रत्येक नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति के लिए देशभक्ति की कितनी बड़ी आवश्यकता है ? लेकिन देशभक्त बनने के पहले प्रत्येक व्यक्ति को दैशिक शास्त्र का अवश्य अध्ययन करना चाहिए जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा करने के पूर्व वैद्यक शास्त्र के ज्ञान की पूर्ण आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समाज और देश की चिकित्सा करने के लिए दैशिक शास्त्र की पूर्ण आवश्यकता होती है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के देशभक्ति के कामों में हाथ डालनेवाला ठीक इसी प्रकार असंयुक्त होता है जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र के ज्ञान के बिना चिकित्सा करनेवाला चिकित्सक। बल्कि मूर्ख चिकित्सक से केवल दो चार व्यक्तियों की ही हानि होती है पर बिना दैशिक शास्त्र के ज्ञान के देश-सेवा करनेवालों के हाथ से सा को हानि होती है। देशभक्त होने के लिए दैशिक शास्त्र के ज्ञान के अतिरिक्त और भी कई नैतिक गुणों की आवश्यकता होती है, जिनका क्रमशः आगे विवेचन किया जायगा

---

(३)

आत्मविश्वास

अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक स्विट्-मार्संडन का कथन है कि

"उस पशुपालक को सफलता मिलने की कैसे आशा की जा सकती है जो शुरू में भयङ्कर और जङ्गली जानवरों के पींजरे में कम और संदिग्ध मन से प्रवेश करता है। यदि मनुष्य इस प्रकार के निर्बल, संदिग्ध और अपूर्ण विचारों से जङ्गली जानवर का सामना करे, तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि वह जानवर उसकी हड्डी २ को चबा जायगा। ऐसे भयङ्कर समय में सिवाय अविचल साहस और आत्मविश्वास के उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्यों को चाहिए कि पहले उस जानवर को अपनी आँखों ही से वश में रखे। उसकी आँखों में निर्भीकता और निश्चलता के सुन्दर भाव झलकना चाहिए। ज्योंहीं उसकी आँखों में जरा भी भय का या भीरुता का भाव झलका त्योंही समझ लीजिये कि उसकी जान गई।"

इसी प्रकार जीवन संग्राम में मनुष्य तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि उसके मन में यह विश्वास न हो कि जिसके लिए मैं काम कर रहा हूँ वह सफल होता जा रहा है।

भयङ्कर संग्राम के अन्तर्गत जहाँ हर समय मृत्यु का भीषण आर्तनाद मचा हुआ रहता है, जहाँ पर हत्या राक्षसी की भयङ्कर चिंघाड़ आत्मा को थर्रा देती है, जहाँ पर खून की बहती हुई नदियाँ रोम रोम को खड़ा कर देती हैं ऐसे विकट समय में यदि मनुष्य के हृदय में आत्मविश्वास न हो, अगर उसके

हृदय में यह भावना न हो कि, मैं विजय प्राप्त कर लूंगा तो क्या वह आगे बढ़ सकता है? उस समय आत्मविश्वास ही खड़ा होकर उसके हृदय में वीरता का जोश भरता है, 'आत्म-विश्वास ही कहता है, डरते क्यों हो, बढ़ो तो सही विजय तुम्हारे सम्मुख खड़ी है। इसी भावना, इसी आत्मविश्वास से प्रेरित होकर मनुष्य उस भयङ्कर यज्ञ में कूद पड़ता है और या तो विजयगर्व से उन्मत्त होकर वापस लौटता है या शान के साथ माशूक की तरह मृत्यु को गले लगाता है।

यदि मनुष्य-हृदय के अन्दर आत्मविश्वास की भावना न होती तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि आज संसार के इतिहास की गति ही दूसरी होती। वीरता के वे सब दृश्य जो आज इतिहास के पन्नों के गौरव को वर्द्धित कर रहे हैं सब आत्मविश्वास के उदाहरण हैं। नेपोलियन की इतनी बड़ी उन्नति का असली रहस्य क्या है? शिवाजी के समान मामूली व्यक्ति किस गुण के कारण छत्रपति के आसन पर विराजमान हो गये? चन्द्रगुप्त के जीवन का वह कौनसा तत्व है जिसने उसे जगत का अद्वितीय सम्राट् बना दिया। थोड़े ही शब्द में यदि हम इसका उत्तर देना चाहें तो निधड़क होकर कह सकते हैं कि "आत्मविश्वास"। इन महापुरुषों ने अपनी छिपी हुई शक्तियों को पहिचान लिया था। इन्होंने अपनी शक्तियों पर विश्वास करके तरक्की के रास्ते को पकड़ा था। इसी आत्म-विश्वास के बल पर उन्हें एक पर दूसरी सफलता मिलती

गई। इसके विपरीत आप बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसिंह पर निगाह डालिए। उनके पास सेना थी, शक्तियाँ थीं। वे चाहते तो सत्रह सवारों के साथ आनेवाले बख़्तियार खिलजी को चींटी की तरह मसल सकते थे। पर उनमें आत्मविश्वास नहीं था। वे विजय की ओर से बिलकुल निराश थे। बस उनके इन्हीं विचारों ने उनका राज्य खो दिया।

आत्मविश्वास मनुष्यजाति की एक अमूल्य शक्ति है। आत्म-विश्वास की शक्ति के जोर से एक दुबला पतला मनुष्य अपने से दसगुनी शक्तिवाले आत्मविश्वास-हीन मनुष्य को भी परास्त कर सकता है। आत्मविश्वास वह चीज है जो हमें उस दिव्यता का दर्शन कराता है जो हमारे आत्मा के अन्दर रमी हुई है। विश्वास ही वह वस्तु है जो ईश्वर से हमारा ऐक्य करवाता है। विश्वास ही वह वस्तु है जो हमारे हृदय के कपाटों को खोल देता है। और विश्वास ही वह वस्तु है जो हमें अनन्त की ओर आकर्षित करता है।

भावनाओं का मन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है जिस प्रकार फोटो में मनुष्य का हूबहू प्रतिबिम्ब खिंच जाता है उसी प्रकार भावनाओं का हूबहू प्रतिबिम्ब मन पर अङ्कित हो जाता है। यदि भावनाएँ कमजोर हुईं तो मन भी कमजोर होगा और यदि भावनाएँ बलवान हुईं तो मन भी बलवान होगा। मन की सबलता और निर्बलता पर ही सफलता और असफलता निर्भर है। भावनाओं का मन पर कितना गहरा

परिणाम होता है इसका एक ताजा उदाहरण हम पाठकों के आगे पेश करते हैं।

फ्रान्स का एक भावुक नवयुवक जो कि वहीं की एक बालिका पर मुग्ध था, जर्मनी के एक प्रसिद्ध डाक्टर के घर गया। उस समय भी वह अपनी प्रेमिका के ध्यान में इतना मस्त था कि, डाक्टर से ठीक तरह बात भी नहीं कर सकता था। डाक्टर को उसकी इस अवस्था पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस युवक के मानसिक विचारों की स्थिति जाँचने के लिए ईथर के द्वारा उसके मनोभावों का फोटो ले लिया, उन्हें उस समय अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि उस फोटो में एक कम उम्र हसीन रमणी बैठी हुई है। उन्होंने उस फोटो को नवयुवक के सामने रख दिया, उसे देखकर नवयुवक को डाक्टर से भी ज्यादा आश्चर्य हुआ। पर जब डाक्टर ने उसका समाधान कर दिया तब वह शान्त हो गया।

भावनाओं के इस गहरे असर को देखकर ही हमारे प्राचीन ऋषियों ने प्रत्येक व्यक्ति को इच्छाशक्ति बढ़ाने का उपदेश दिया है। उन्होंने स्थान २ पर कहा है कि आत्मविश्वास वाला मनुष्य ही इह लोक और परलोक में विजयी हो सकता है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा शक्तियों का विकास करना चाहिए। इच्छा शक्तियों के विकास का सबसे उत्तम साधन योग है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। सम्भवतः इसीलिए

उन्होंने सवेरे और सन्ध्या को सन्ध्या करना गृहस्थ का एक प्रधान कर्म बतलाया है।

मतलब यह कि, आत्मविश्वास भी नैतिक जीवन का एक अङ्ग है। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को—जो अपने जीवन को नैतिक बनाना चाहता है, जो जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करना चाहता है—उसको चाहिए कि वह अपने आपको कमज़ोर अनुभव न करे (कभी वह अपनी शक्तियों के प्रति अविश्वास प्रगट न करे) जिस काम को वह सिद्ध करना चाहे तन, मन, धन से उसी में जुट जाय। और जहाँ तक वह सिद्ध न हो वह उसका पीछा न छोड़े। बस, निश्चय है कि उसका कार्य्य शीघ्र या विलम्ब से अवश्य सिद्ध होगा।

मानसिक शक्तियों से संसार के सब काम सम्पन्न होते हैं। हमारे ऋषि महर्षि जिनकी मानसिक शक्तियाँ बढ़ी हुई रहती थीं, अपनी जबान के बल से या आँखों के तेज से शाप के द्वारा संसार में तहलका मचा देते थे। कोई बात ऐसी न थी जिसे वे न कर सकते थे। इसी प्रकार आजकल हम मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म, आदि के जो अद्भुत दृश्य देखा करते हैं ये भी सब आत्म-विश्वास या मानसिक शक्तियों के ही फल स्वरूप हैं। इनके द्वारा हम मुर्दों से बात कर सकते हैं, किसी भी रोगी को केवल उसका फोटो देखकर आराम कर सकते हैं।

जिस व्यक्ति का आत्म-विश्वास बढ़ा हुआ रहता है वह

कभी दुखी नहीं रह सकता। जिस जाति में आत्म-विश्वास की धारा बहती है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। जो देश आत्म-विश्वास से सम्पन्न होता है वह कभी गुलाम नहीं हो सकता।

एक लेखक का कथन है कि, जो मनुष्य आत्म-विश्वास से सुरक्षित है वह उन चिन्ताओं से मुक्त रहता है जिनसे दूसरे मनुष्य बहुत दबे हुए रहते हैं। उसके विचार और कार्य्य उक्त बलाओं से मुक्त होकर स्वाधीनता प्राप्त करते हैं अथवा दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, उसें कार्य्य और विचार की स्वाधीनता मिल जाती है। जो उच्च कार्य्य सम्पादिका शक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत आवश्यक है।

---

(५)

साहस और निर्भीकता

एक महाराष्ट्रीय लेखक का कथन है कि उत्तम २ संस्थाओं की इतनी आवश्यकता नहीं, कंचन गंगा के समान ऊँची २ तथा विस्तृत धन और सुवर्ण की राशियों की आवश्यकता नहीं, असीम पौरुष और बल युक्त लेखनी की भी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल मनुष्यता से परिपूर्ण साहसी

और निर्भीक मनुष्यों की। आवश्यकता है ऐसे मनुष्यों की जो जन-समुदाय के विचारों में अपने अस्तित्व को लीन नहीं कर देते, आवश्यकता है ऐसे मनुष्यों की जो निर्भीकता पूर्वक स्वतन्त्रता से अपने विचारों को प्रकट करने का साहस रखते हों। जो सारे संसार को अनीति मूलक "हाँ" के विरुद्ध छाती तान कर "न" कहने का साहस रखते हों, जो एक महान कार्य्य में प्रवृत्त होने पर भी अपनी एक शक्ति को प्रबल बनाए रखने के लिए मनुष्यत्व की दूसरी शक्तियों को क्षीण न कर देते हों।"

समाज में कार्य्य करने वाले और अपने जीवन को नैतिक बनाने वाले व्यक्तियों को साहसी और निर्भीक बनने की अत्यन्त आवश्यकता है। जो व्यक्ति समाज की वास्तविक सेवा करना चाहते हैं, उनमें यदि साहस और निर्भीकता की पर्याप्त मात्रा न होगी तो निश्चय है कि समाज उन्हें घोल कर पी जायगा और उसमें भी खास कर ऐसे समाज में तो—जिसकी नैतिकता नष्ट हो गई है, जो प्राचीन रूढ़ियों का गुलाम है, जो किसी भी नई बात के सुनने और मानने के लिए तैय्यार नहीं है—बहुत ही बड़े साहस की आवश्यकता रहती है। जब समाज के अन्दर प्रतिष्ठा और प्रशंसा को प्राप्त करने के लिए लोग दासत्व और चाटुकारी का प्रयोग करते हैं, उस समय नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य के हृदय में सत्यनिष्ठ बने रहने के लिए असीम साहस की आवश्यकता होती है। जब हमारे

साथी लोग बढ़िया २ रेशमी वस्त्र पहन कर निकलते हैं, उस समय उस अप्रामाणिकता को नष्ट कर प्रामाणिकता पूर्वक साधारण और फटे हुए वस्त्र पहन कर निकलना भी बहुत बड़े साहस का काम होता है। दूसरे मनुष्यों को कपट और अधर्म से धनवान होते देख कर भी नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले को साहस पूर्वक निष्कपट सत्य पर दृढ़ रह कर दरिद्र बन कर रहना पड़ता है, इतना ही नहीं उस दरिद्रता में ही उसे आनन्दलाभ भी करना पड़ता है। नैतिक जीवन व्यतीत करने-वाले को उस कठिन समय का भी साहस पूर्वक सामना करना पड़ता है जब उसके सब सहयोगी किसी अनीति मूलक बात में भी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त "हाँ" कहने को प्रस्तुत हो जाते हैं और उस समय उसको सत्य की रक्षा के निमित्त "न" कहना ही पड़ता है।

मनुष्य के नैतिक साहस की कठिन परीक्षा उस समय होती है जब वह संसार में सत्यभक्त आदमियों को भीषण दुःख सहते हुए, और मक्कार एवं चालाक आदमियों को सुखी होते हुए देखता है। जब वह सत्य-निष्ठ आदमियों की झोंप-ड़ियों में रोशनी के लिए तेल का भी अभाव देखता है और उसके साथ ही चालाक धूर्त और सट्टाखोर बनियों को ऊँचे २ विलास मन्दिरों में विलास करते हुए देखता है, जब वह ऊँची श्रेणी के त्यागियों और देश-भक्तों को कारागार के सीकचों में बन्द, और स्वार्थी, नीच, कपटी, देश-द्रोहियों को

आज़ाद विचरण करते हुए देखता है, जब वह सती-साध्वी रमणियों को भयङ्कर यन्त्रणा सहते हुए और वेश्याओं को आनन्द करते हुए देखता है, जब वह संसार में धूर्तता और मक्कारी को सत्य और न्यायनिष्ठा पर राज्य करता हुआ देखता है, जब वह सरस्वती को लक्ष्मी का दासत्व करते हुए, और ईमानदारी को बेईमानी के पैरों पर पड़ी हुई देखता है। ऐसे दृश्य संसार में एक दो नहीं प्रायः नित्य ही हुआ करते हैं। इन भयङ्कर दृश्यों के मध्य में रह कर भी जो आदमी सत्य से विचलित नहीं होता, जो साहस पूर्वक उन सब विभूतियों को लात मार देता है, जो झूठ, धूर्तता, और मक्कारी से प्राप्त होती हैं, जो संसार के मानापमान की परवाह न करते हुए केवल सत्य की विभूतियों को ग्रहण करता है वही सच्चा साहसी है, वही पूजा करने के योग्य है।

मनुष्य के नैतिक साहस की दूसरी परीक्षा उस समय होती है जब वह सामाजिक क्षेत्र में कर्म करना चाहता है। जिस समय छोटी २ बालविधवाओं की ठण्डी आहों से उसका कलेजा पसीज जाता है, जिस समय समाज के होनहार छोटे २ युवकों का विवाह की वेदी पर नाश होते हुए देख कर उसकी छाती दहल उठती है जिस समय समाज के दुर्बल अङ्गों पर अत्याचार होते देख कर उसका कलेजा फट जाता है, उस समय इन अत्याचारों का विरोध करने के लिए समाज के विरुद्ध उसे छाती तान कर खड़ा होना पड़ता है, निर्दयी

समाज जिस समय उन अत्याचारों पर कमर कसता है उस समय उसे छाती ठोक कर अत्यन्त साहस-पूर्वक समाज के विरुद्ध चेलेञ्ज देना पड़ता है। इस गम्भीर समय में सिवाय कट्टर नैतिक साहस के उसका कोई सहायक नहीं होता।

स्वामी दयानन्द ने जिस समय समाज के इन भयङ्कर अत्याचारों से तङ्ग आकर समाज के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी जिस समय उन्होंने सारे हिन्दू समाज के विरुद्ध बुत परस्ती का खण्डन और विधवा-विवाह का मण्डन किया था, जिस समय उन्होंने अछूत उद्धार की नीति का अवलम्बन किया था उस समय इस समाज ने उन पर पत्थर फेंके थे। उन पर लाखों गालियों की वर्षा की थी। और उनके मुँह पर गोबर फेंका था। उस भयङ्कर सामाजिक क्रान्ति के बीच यदि कोई नैतिक बल विहीन साधारण व्यक्ति होता तो निश्चय था कि समाज उसे पदच्युत कर देता। पर स्वामीजी में नैतिक बल की पूर्णता थी। उनका साहस अदम्य था। और यही कारण है कि उनका आन्दोलन सफल हुआ। उस समय नैतिक साहस ही स्वामीजी का प्रधान सहायक हुआ।

महात्मा ईसा और मुहम्मद ने भी जब तत्कालीन समाज के विरुद्ध अपना सन्देशा दिया था, उस समय भी वहाँ के समाज ने उन दोनों महात्माओं की अत्यन्त दुर्गति की थी। मुहम्मद को मक्का से भाग कर मदीना जाना पड़ा था। ईसा को तो इसके बदले में प्राणों को भी विसर्जन कर देना पड़ा था

पर इससे क्या हुआ। मरते दम तक इन महात्माओं ने नैतिक साहस को न छोड़ा। और इसका परिणाम यह हुआ कि, वे ही लोग जिन्होंने इन लोगों के प्राण लिये थे आज उनकी उपासना कर रहे हैं। मतलब यह कि नैतिक साहस की यह दूसरी परीक्षा पहली से भी बहुत भयङ्कर है इसमें से उत्तीर्ण होना बहुत ही टेढ़ी खीर है।

मनुष्य के नैतिक साहस की तीसरी परीक्षा उस समय होती है जब उसके सामने कोई ऐसा कठिन कार्य्य उपस्थित हो जाता है जिसमें प्राण जाने का बहुत डर रहता है पर मनुष्यत्व के लिहाज से उसे करना ही पड़ता है। जैसे मान लीजिए कोई मनुष्य पानी में डूब रहा है, किनारे पर खड़े हुए हजारों मनुष्य उसे देख रहे हैं, पर अफसोस करने के सिवा कोई उसे बचाने के लिए आगे नहीं बढ़ता। ऐसे समय में वही मनुष्य उसकी रक्षा कर सकता है जिसमें मनुष्यत्व के साथ २ नैतिक साहस की भी कमी न हो।

अमेरिका के उत्तरीय वरजीनिया के एक वन में कुछ मुसाफिर भोजन कर रहे थे, इतने में किसी स्त्री की हृदय-द्रावक चीत्कार ने उन्हें चकित कर दिया। वे मनुष्य उस चीत्कार को सुनते ही उसका पता लगाने के लिए दौड़े। कुछ समय में वे एक ऐसी स्त्री के निकट पहुँचे जिसे कई आदमियों ने पकड़ रक्खा था। उस स्त्री की दृष्टि इन नवागन्तुकों में से एक युवक पर पड़ी। उसने चिल्लाकर कहा—"महाशय मेरा

बच्चा डूब रहा है मेरा लाल मेरी आँखों से ओट हुआ जा रहा है और ये दुष्ट मुझे उसे बचाने के लिए नहीं जाने देते। उसकी रक्षा कीजिए। जो आदमी उसे पकड़े हुए थे उनमें से एक ने कहा कि यह पागलपन है, नदी में कूदते ही उसका प्रचण्ड प्रवाह उसे चूर २ कर देगा। यह सुनते ही उस युवक ने शीघ्रता के साथ अपने कपड़े उतार कर फेंक दिये, और क्षण भर तक उन शिलाओं और भँवर युक्त लहरों को देख कर वह उसमें कूद पड़ा। सब की आँखें इस युवक की ओर लगी हुई थीं। वह बहुत निचाई पर से भँवर युक्त और चञ्चल नदी के मध्य में साहस और आशापूर्ण हृदय से किनारे की ओर आने का प्रयत्न कर रहा था। कभी यह मालूम होता था कि वह एक नोकीली और पैनी चट्टान से टकरा कर मर जावेगा और कभी ऐसा मालुम होता था कि सामनेवाला भँवर उसे अपने मध्य में घसीट लेगा जिससे उसका निकलना असम्भव हो जायगा। दो बार लड़का आँखों से ओझल हो गया परन्तु तीसरी बार वह उसे फिर दिखाई दिया। इस बार वह नदी के अत्यन्त भयानक भाग के बहुत समीप आ गया था। उस स्थान पर नदी का प्रवाह इतना वेगवान् था कि, नाव का जाना भी असम्भव था। युवक ऐसे विकट समय में दूने साहस से तैरने लगा, तीन बार बच्चा हाथ में आ आकर निकल गया। बार २ ऊँची २ लहरें बच्चे को उसके हाथ से छीन कर उछाल देती थीं। इस बार उसने बच्चे को बचाने का अन्तिम प्रयत्न

किया। उसने बच्चे को अपनी बलवान दाहिनी भुजा से उठा लिया, पर उठाते ही एक भययुक्त दारुण चीत्कार लोगों को सुनाई पड़ी, बच्चा और युवक दोनों ही धड़ाम से उछलकर झरने से नीचे गिर पड़े और उछलते हुए पानी में अदृश्य हो गये। पर क्षण भर बाद ही वे पुनः दिखाई दिये और थोड़े ही समय पश्चात् किनारे पर पहुँच गये।

बच्चा अचेत हो गया था। युवक भी मूर्छा के बहुत ही समीप था। पर उसके चेहरे पर अद्भुत आनन्द की एक ज्योति खेल रही थी। उसकी आखों से सात्विक तेज की एक धारा छूट रही थी। कौन जानता था कि, यही, युवक भविष्य में संसार का एक महान पुरुष होगा। कौन जानता था कि, यही अमेरिका का उद्धारक "वाशिंग्टन" है। मनुष्य के कर्म ही तो उसको महापुरुष बनाते हैं।

मनुष्य के नैतिक साहस की चौथी परीक्षा उस समय होती है जब उसके धर्म को नष्ट करने के लिए बड़ी से बड़ी शक्तियाँ तैयार हो जाती हैं। और जब वह प्राणप्रण से धर्म की रक्षा करने पर उतारू हो जाता है।

वीर बालक हक़ीकतराय के नैतिक साहस का परिचय इतिहास के अन्दर स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। जिस समय बादशाह औरङ्ग़ज़ेब के दरबार में हक़ीकतराय पेश किये गये, उस समय सारे दरबार की आँखें उनकी तरफ लगी हुई थीं। बादशाह ने भौंहे चढ़ाकर उससे कहा "छोकरे! या तो इस्लाम

को ग्रहण करले या मौत के लिए तैय्यार हो जा।" बालक ने उत्तर दिया—"आवश्यकता होगी तो मौत के ही लिए तैय्यार रहूँगा।" उस पर बादशाह ने क्रोधित होकर उनको दीवाल में चुनने को आज्ञा दी। हकीकतराय घुटनों तक चुन दिये गये। उस समय फिर बादशाह ने कहा "अब भी वक्त है" हकीकत राय प्रशान्त रहे। अब दीवाल कमर तक आ गई। बादशाह ने फिर वही सवाल किया हकीकतराय फिर भी प्रशान्त रहे। दीवाल और भी ऊपर उठाई जाने लगी यहाँ तक कि वह गर्दन तक आ गई सारी सभा स्तम्भित हो गई। बादशाह ने फिर वही सवाल किया, अब की बार हकीकतराय ने बड़ी ही तेज़ी से उत्तर दिया, उस उत्तर पर एक कवि ने बड़ी ही ओजस्विनी कविता की है। हम उसका कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत करते हैं, हकीकतराय कहते हैं:—

डराता मौत से क्या है अमर है आत्मा मेरी।
नहीं कुछ कारगर होने की उस पर तेग़ यह तेरी।

इसे छेदे इसे काटे कहाँ यह तीर की ताक़त।
इसे बाँधे इसे जकड़े कहाँ यह जंजीर की ताक़त।

गला सकता नहीं उसको सुन ओ बेदाव गरपानी।
जला सकती नहीं है आग की भी शोला अफ़सानी।

अजल का ख़ौफ़ है उसको न कुछ है मर्ज़ का धड़का।
डरा सकता नहीं हर्गिज उसे बिजुली का भी कड़का।

मरने पर मिटूंगा मैं धर्म ही मुझको प्यारा है।
यही हमदर्द है मेरा यही मेरा सहारा है।

इस प्रकार की वीरता सूचक गर्जन करता हुआ वह वीर धर्म के नाम पर बलिदान हो गया। उसी को नैतिक साहस की पराकाष्ठा कहते हैं।

एक बार महात्मा बुद्ध के एक शिष्य किसी ऐसे ग्राम में धर्म प्रचार के निमित्त जाने लगे, जहाँ के लोग बुद्ध के बड़े ही विरोधी थे। यहाँ तक कि वे बुद्धानुयायियों के प्राण तक ले लेते थे। ऐसे भयङ्कर स्थान में भेजने के पूर्व महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्य की परीक्षा ले लेना उचित समझी।

महात्मा बुद्ध ने पूछाः—तुम उस ग्राम में जाते तो हो मगर यदि वहाँ के लोगों ने तुम्हारा अपमान किया तो तुम क्या करोगे।

शिष्य ने गम्भीरता से उत्तर दिया—भगवान उस समय मैं यह समझ कर उनका उपकार मानूँगा कि वे लोग मुझे गालियाँ तो नहीं दे रहे हैं।

बुद्ध ने पूछा-यदि गालियाँ ही देने लगे तो?

शिष्य ने उसी प्रकार उत्तर दिया कि—मैं इसलिए उनका उपकार मानूँगा कि, वे मुझे पत्थर तो नहीं मार रहे हैं।

बुद्ध ने पूछा—यदि पत्थर भी मारने लगें तो?

शिष्य ने कहा—तो मैं इसलिए उपकार मानूँगा कि, वे मुझे जान से तो नहीं मार रहे हैं।

बुद्ध ने कहा—यदि जान से ही मारने लगें तो?

शिष्य ने कहा—तो मैं इसलिए उनका उपकार मानता हुआ मरूँगा कि, मेरे निर्वाण पथ में तो किसी प्रकार बाधा नहीं दे रहे हैं !!!

इसी को नैतिक साहस की उच्च पराकाष्ठा कहते हैं। जहाँ पर इस प्रकार का नैतिक साहस मौजूद रहता है, असफलता वहाँ से कोसों दूर भागती है।

जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के नैतिक साहस की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति के हृदय में साहस का अंकुर अंकुरित रहता है वह कभी किसी प्रकार के अभाव से पराजित नहीं होता। वह बाधाओं से भय नहीं खाता। बाधाओं और कष्टों से वह युद्ध करता है। दुर्भाग्य को वह वीरता से सहन करता है, प्रतिफल और आशा-भंग का वह साहस से सामना करता है। साहसी पुरुष में एक बड़ी चित्ताकर्षक शक्ति होती है, जो उसके साथियों में भी महानुभावता की लहर पैदा कर देती है। सैकड़ों साहस-हीन पुरुष प्रतिदिन संसार के परदे से उठते जाते हैं। भीरुता और उत्साहहीनता के कारण वे समाज व संसार की कुछ भी सेवा नहीं कर सकते। संदिग्ध चित्त हतोत्साह व्यक्तियों से संसार का कुछ भी हित साधन नहीं हो सकता। पर साहसी और प्रसन्न चित्त पुरुष अपनी अपूर्ण आशाओं और प्रतिकूल फलों को पाकर भी उसे ईश्वरीय इच्छा का परिणाम समझते

हैं। वे एक लेखक के इस कथन पर कि—"नरक का वह मार्ग जिसमें से होकर तुम गुजर रहे हो स्वर्ग की प्रथम सीढ़ी है।" पूरा विश्वास करते हुए आगे बढ़ते ही जाते हैं।

साहसी पुरुषों को इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि संसार हमारी चिन्ता नहीं करता। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि—परिस्थिति हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल। परिस्थिति के विरुद्ध वे छाती खोलकर खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार के मनुष्यों से संसार और जाति का उपकार हो सकता है।

यह बात तो निश्चित है कि, जिसका नैतिक साहस जितना ही अधिक बढ़ा हुआ रहेगा उसके मार्ग में विघ्न भी उतने ही ज़बर्दस्त आवेंगे। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है लेकिन इन इतिहास प्रसिद्ध पुरुषों ने उन भयङ्कर विघ्नों को पैरों तले कुचल कर सफलता प्राप्त की है। सिकन्दर बीस वर्ष की अवस्था में सिंहासनासीन हुए थे। मगर मृत्यु के समय केवल तेंतीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने सारे परिचित संसार को जीत लिया था। जुलीयस सीज़र ने आठ सौ नगरों को हस्तगत किया, तीन सौ जातियों पर विजय प्राप्त की और तीस कोटि लोगों को पराजित किया। यही नहीं वह प्रसिद्ध वाग्वि-शारद और संसार का सब से बड़ा राजनीतिज्ञ भी हो गया। गेलिलिओ ने केवल अट्ठारह वर्ष की अवस्था में पृथ्वी का घूमना सिद्ध कर दिया। मतलब यह कि, जो मनुष्य साहस के

साथ कर्तव्य क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है, वह अवश्य विजयी होता है।

शेक्सपीयर का कथन है कि, "वह मनुष्य शहद पाने का अधिकारी नहीं कि, जो छत्ते से इसलिए घृणा करता है कि उसमें मक्खियों के डङ्क हैं।"

मतलब यह कि, साहसहीन पुरुषों को किसी भी उत्तर दायित्व पूर्ण कार्य्य करने का अधिकार नहीं है। इसलिए जो मनुष्य अपने जीवन को नैतिक जीवन बनाना चाहता है जो देश और समाज की सेवा करना चाहता है; उसे आत्मा के इस दिव्य गुण को अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

—:o:—

(५)

स्वावलम्बन

यश और गौरव अपने ही प्रयत्न का फल होना चाहिए। वे तुम्हें पैतृकवृत में नहीं मिल सकते। धन द्वारा मोल नहीं लिये जा सकते। और न उन्हें दैवयोग से ही पा सकते हो। वे जन्म स्थान या धन से सम्बन्ध नहीं रखते। वे तुम्हारे ही अध्यवसाय और प्रयत्न के प्रतिफल में मिल सकते हैं। या सद्भावों और सदाचार के पारितोषिक हो सकते हैं, जीवन की सफलता के लिए आत्मविश्वास और ईश्वर को सर्वज्ञ

मानकर आत्मवृद्धि और यश पाने की दृढ़-प्रतिज्ञा की ही सबसे अधिक आवश्यकता है। यदि मार्ग में कठिनाई या बाधा आवे, तो उससे युद्ध करने की तुममें यथेष्ट शक्ति होना चाहिए। बहुत से अच्छे लड़के कोई काम पूरा नहीं कर सकते क्योंकि वे जीवन के प्रत्येक गड्ढे में सुगमता से गिर पड़ते हैं। साधारणतः वही मनुष्य जो आरम्भ से ही कठिन संग्राम में पड़जाते हैं, समय-तट पर अपने पद चिन्ह छोड़ जाते हैं।"

उपरोक्त वाक्य एक अंग्रेज़ लेखक के हैं। इन लेखक का कथन है कि, जो मनुष्य दूसरे पर अवलम्बित रहता है, जो सफलता प्राप्त करने के लिए दूसरे की प्रतीक्षा करता है वह कभी जीवन संग्राम में विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

जो मनुष्य स्वावलम्बी बनना जानता है, जो अपने पैरों पर खड़ा रह सकता है वही जीवन की सच्ची सफलता को प्राप्त कर सकता है। जिन लोगों ने अपने पैतृक अधिकारों को छोड़कर या उनकी उपेक्षा करके अपने जीवन को अपने ही बलपर संगठित किया है, जो अपने ही ज्ञानसे ज्ञानवान हुए हैं, जो अपने ही परिश्रम से सम्पत्तिशील हुए हैं, बाधाओं ने जिन्हें यश के देदीप्यमान यश के मन्दिर की ओर एड़ लगाकर दौड़ाया है, सारे सम्भवासम्भव लक्ष्य उनकी पहुँच में हैं। और कोई सच्ची अभिलाषा जो उसकी ऊँचाई, बुद्धि और गुण

की पहुँच के परे नहीं ऐसी नहीं है जिसपर उसके चरण न पहुँच सकें।

जो लोग अपने पैतृक धनपर मौज उड़ाते हैं जो दूसरे के कमाये हुए यश में भाग वँटाना चाहते हैं जो अकर्मण्य रहकर विलास करना चाहते हैं, जिनमें आत्मविश्वास नहीं है, साहस नहीं है, स्वावलम्बन नहीं है, ऐसे लोग कभी नैतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। उन लोगों से समाज कभी उन्नतिशील नहीं हो सकता।

एक लेखक ने कहा है:—संसार में वह व्यक्ति पूजनीय नहीं हो सकता जिसके पास अनुकूल सम्पत्ति है। वह व्यक्ति पूजनीय नहीं हो सकता, जिसके पास अनन्त यश वैभव है, वह भी पूजनीय नहीं हो सकता जो अनन्त ज्ञान और शक्ति का मालिक है। संसार के अन्तर्गत वास्तविक पूजनीय वही है जो अपने पैरों पर खड़ा हुआ हो, जो वास्तविक स्वाव-लम्बी हो।

प्रोफ़ेसर विलसन एक दफ़ा अपने एक प्रतिष्ठित मित्र के साथ वायु सेवन के लिए मैदान में जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक किसान मिला। विलसन आगे बढ़े और टोप उतार आदर से प्रणाम कर उन्होंने उसकी कुशल पूछी। यह देखकर उनके वे प्रतिष्ठित मित्र बड़े आश्चर्य्य में हुए। मित्र को इस प्रकार चकित होते देखकर प्रोफेसर साहब ने मिलने वाले व्यक्ति से विदा होने के पश्चात् कहा "मित्र! आश्चर्य की काई बात नहीं।

इस मनुष्य का मैं ही नहीं बड़े २ ख्यातनामा लोग आदर करते हैं। इसने अपने ही पावों पर खड़े होकर आश्चर्य्य जनक उन्नति की है। और विज्ञानजगत में एक प्रसिद्ध व्यक्ति बन बैठा है। जीवन संग्राम में निराधार होकर जो व्यक्ति आगे बढ़ता है वही जगत में पूजनीय होता है।"

स्वामी रामतीर्थ ने कई स्थानों पर कहा है कि भारत को स्वावलम्बन का पाठ अमेरीका से पढ़ना चाहिए। वहाँ का एक २ बच्चा स्वावलम्बन के महत्व को जानता है। प्रत्येक युवक अपने पैरों पर खड़ा होना जानता है। वहाँ पर ऐसे २ नवयुवक सड़कों पर अखबार बेचते हुए नज़र आते हैं जिनके पिताओं के पास अगाध सम्पत्ति है। जब उनसे पूछा जाता है तो वे कहते हैं कि, पिता की सम्पत्ति का हमें कुछ भी गौरव नहीं हैं, जो कुछ हम अपने हाथों से कमाते हैं, उसीको खर्च करने का हमें अधिकार है।

तुम चाहे अतुल धन अपने पुत्र के लिए छोड़ जाओ, परन्तु क्या तुमने यथार्थ में उसे कुछ दिया है? कार्य्यदक्षता और अनुभव से उत्पन्न हुई शक्ति तुम उसें नहीं दे सकते। प्राप्ति का आनन्द, वृद्धि का सुख, लाभ के समय का अभिमान और दृढ़ता, नियम, कार्य्यदक्षता धैर्य्य सहनशीलता, शान्ति-सदाचार, सभ्यता के स्वभाव से बना हुआ निर्मल चरित्र तुम कुछ भी उसे नहीं दे सकते, तुम्हारे धन के साथ छिपी हुई प्रवीणता चतुराई, बुद्धिमानी और दूरदर्शिता को वह न

पासकेगा। उपरोक्त वस्तुओं से तुम्हारा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पर तुम्हारे पुत्र का उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं। अपने भाग्योदय की ओर जाते समय तुमने बड़े यत्न से अपनी रक्षा की और बलवान बने। जिसके कारण तुम अपनी उच्च स्थिति पर दृढ़ रहसके। और अपनी अतुल सम्पत्ति एकत्र रख सके। तुमने अनुभव से वह शक्ति प्राप्त की, जिसके कारण तुम अपनी उच्चावस्था पर संयमित रूप से ठहर सके। तुम्हारा धन, तुम्हारे अनुभव, आनन्द, सदाचार, और वृद्धि का कारण था, पर क्या मालुम तुम्हारे पुत्रके लिए कदाचित वही धन लोभ चिन्ता और पतन का कारण हो जाय। तुम्हारे धन ने तुम्हारी शिक्षा और उच्च शक्तियों को विकसित करने में सहायता दी। पर कदाचित वही धन तुम्हारे पुत्र के लिए आलस्य, अकर्मण्यता, दुर्बलता, अज्ञान और दुराचार का कारण हो जाय। तुम्हारे धन से उसका कुछ लाभ नहीं हो सकता, बल्कि हानि होने की सम्भावना रहती है। क्योंकि तुमने उसे अपने पैरों पर खड़े रहने का अवकाश नहीं दिया। तुमने उससे उसकी शक्तियों का विकास करने का अवसर छीन लिया, तुमने उस पर से अभाव और आवश्यकता का ऐसा बहुमूल्य कोड़ा हटा लिया जिसने संसार के इतिहास में मनुष्यों से बड़े बड़े काम करवाये हैं।

तुमने सोचा होगा कि तुम्हारा पुत्र जहाँ पर तुमने अपने कार्य्य को छोड़ा है वहाँ से उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेगा।

तुमने सोचा होगा कि, बच्चेको परिश्रम, कष्ट, अभाव, बाधाओं और तीक्ष्ण भाव से बचा कर उस पर असीम कृपा की है। परन्तु तुमने यह नहीं सोचा कि, तुम उसके हाथ में लाठी के बदले वैसाखी दे रहे हो। तुम इस धन के द्वारा उस बच्चे के कई स्वाभाविक गुणों को नष्ट कर रहे हो। उसकी समृद्धि, स्वावलम्बन और उत्साह की उन दिव्य भावनाओं को नष्ट कर रहे हो, जिनके बिना वास्तविक सुख, आनन्द वृद्धि और चरित्र बनना असम्भव है। तुम्हारे इस धन के प्रभाव से उसका उत्साह दूर भाग जायगा। शक्ति क्षीण हो जायगी, उसके हृदय की उमङ्गें शनैः २ नष्ट हो जायगीं, इस प्रकार तुम्हारा धन उसके गुणों का विकास करने के बदले उसका अपघात करने में ही मदद देगा।

वे मनुष्य जिनका सारा जीवन ऐश्वर्य्य और सुख में व्यतीत हुआ है, बहुधा कठिन समय में निरूपाय होकर हाथ पर हाथ धर कर रह जाते हैं। जब दुर्भाग्य से उनकी भेंट होती है तो वे चारों ओर ऐसे मनुष्य की खोज में रहते हैं जिस पर भरोसा करके सहायता पाने की आशा कर सकें। यदि कहीं अव-लम्ब न मिला तो उनका अवश्य पतन हो जाता है। और वे अख्याति के अन्धकार में लीन हो जाते हैं। और यदि ऐसे समय में उन्हें कोई सहायक न मिला, और वह अपने पैरों पर खड़ा होना सीख गया तो फिर उसका जीवन अवश्य प्रकाश मय हो जायगा।

प्रसिद्ध लेखक वाशिङ्गटन अर्विंङ्ग कहते हैं कि, ऐसे मनुष्यों को देख कर वड़ा आनन्द होता है जो कुछ अपनी ही सहायता से मनुष्य वने हैं और प्रत्येक वाधा को दूर करते और सहस्रों असुविधाओं से युद्ध करते ऊपर उठते चले आते हैं।

संसार में यथार्थ विजय, अध्यवसाय और परिश्रम ही दिलाते हैं। देवगण इसी मूल्य पर सब कुछ वेचते हैं परन्तु इसके विना भिक्षा में कुछ नहीं देते। सफलता देवी का मन्दिर कभी खुला नहीं रहता, प्रत्येक मनुष्य जो उसमें जाता है अपने लिए स्वयं द्वार बनाता है जो उसके जाने उपरान्त तुरन्त ही बन्द हो जाता है।

संसार के सभी वड़े वड़े काम स्वावलम्वन से हुए हैं। सहस्रों युवक आरम्भ पूँजी न होने के कारण दुखी, अशान्त और उद्विग्न हो जाते हैं। और ऐसी घटना की प्रतीक्षा करते हैं; जो उन्हें कुछ ऊपर को उचका दे लेकिन सफलता कठिन परिश्रम और धैर्य्य की सहचरी है। वह धोखे में नहीं आ सकती और न घूँस ही लेती है परन्तु उसका मूल्य देने ही से वह तुम्हारी चेरी हो जायगी।

इन सब उदाहरणों और वाक्यों का मतलव यही है कि, प्रत्येक नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले आदमी को स्वावलम्वी होना चाहिए उसे इस वात की चिन्ता न होना चाहिए कि, मेरे पास पूर्व पुरुषों का संचित किया हुआ धन है या नहीं। उसे इस वात की चिन्ता न होना चाहिए कि मेरा यश दिग्-

दिगन्त में व्याप्त है या नहीं। धनहीन और अप्रसिद्ध व्यक्तियों को विकास करने का जितना अवसर मिलता है उतना धनवान और प्रसिद्ध व्यक्तियों को नहीं। धनहीन व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा होना सीखता है, वह उन दिव्य विचारों का संगठन कर सकता है जो नैतिक जीवन के मुख्य आधार हैं।

---

(६)

विचारों की दारिद्रता और नैतिक पतन

मनुष्य के नैतिक जीवन में विचारों की दरिद्रता एक बड़ा भारी रोग है। मेरे पास धन नहीं है मैं क्या कर सकता हूँ, मेरे पास शक्ति नहीं है, किस प्रकार जीवन संग्राम में विजय प्राप्त कर सकता हूँ, मेरे पास बुद्धि नहीं है किस प्रकार समाज की सेवा कर सकता हूँ, आदि, इस प्रकार के विचारों से मनुष्य का बहुत अधिक नैतिक अधःपात हो जाता है। इस प्रकार की भावनाएँ मनुष्य को बिलकुल अकर्मण्य बना देती हैं।

दरिद्रता मनुष्य का एक मानसिक रोग है यदि तुम इस रोग के मरीज़ हो, यदि तुम इस भयङ्कर व्याधि से पीड़ित हो, तो उसे दूर करने के लिए तुम सबसे पहले अपने मानसिक भावों को उन्नत करो। अपने मनोमन्दिर से दुख और दरिद्रता

की उन दुष्ट भावनाओं को निकाल दो जो तुम्हारी आशाओं पर कुठाराघात करती है और उनके बदले में सुख, समृद्धि, सन्तोष और स्वाधीनता के सुन्दर विचारों को अपने मनःक्षेत्र में प्रतिष्ठित करो। फिर यह देख कर आपको आश्चर्य होगा कि, आपकी उन्नति-आपका सुधार कितने ज़ोरों से हो रहा है।

विजय का प्रधान तत्व मनुष्य के मनोविज्ञान में छुपा हुआ है। जो मनुष्य समृद्धिशाली होता है उसका हमेशा यह ख्याल रहता है कि, मैं दिन प्रति दिन उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा हूँ। वह अपने व्यवसाय को सन्देहान्वित और शंका-शील मन से प्रारम्भ नहीं करता। वह अपने समय को दरिद्रता के विचारों में नहीं गँवाता। वह दरिद्र के समान लड़खड़ाता हुआ नहीं चलता। यदि उसके पास नवीन कपड़े खरीदने के लायक पैसा नहीं है तो भी वह दरिद्र के समान मैला नहीं रहता। वह अपने मन को उस वस्तु की ओर फेरता है जिसकी उसे ज़रूरत है और जिसकी प्राप्ति पर उसका पूरा पूरा विश्वास है।

देश में ऐसे हज़ारों दरिद्र मनुष्य हैं जिनकी रग रग में दरिद्रता बसी हुई है। अत्यन्त दुखी होने पर भी वे दरिद्रता का साथ नहीं छोड़ते। इसका कारण यही है कि, उनकी मनो-भावनाएँ कमज़ोर हो गई है। उनकी आशाएँ मुरझा गई हैं। उनकी कार्य्यशक्ति कमजोर हो गई है। दिन रात हाय पैसा पैसा करने पर भी उन्हें पैसा नसीब नहीं होता। हम देखते

हैं कि बहुत से बच्चों के मनोभाव बचपन से ही दरिद्रता की ओर झुका दिये जाते हैं। उनकी उच्च आकांक्षाएँ बचपन से ही कुचल दी जाती हैं। अपने आस पास का सारा वायुमण्डल दरिद्रता के विचारों से भरा देख कर उनका मन भी दरिद्र हो जाता है। अगर ऐसे बच्चे अपने आस पास के वायुमण्डल को और भी ताज़ा बना दें तो क्या आश्चर्य ?

एक लेखक लिखते हैं—"क्या आपने कभी इस बात का विचार किया है कि गरीबी से आप जो भय खाते हैं, सफलता में आपको जो खिन्नता है और दुर्दिन से जो आपका कलेजा काँपता है इसका क्या परिणाम होता है ? याद रखिए ये बातें केवल आपको दुखी ही करके नहीं रह जाती हैं बल्कि आपके भविष्य को भी नष्ट कर देती हैं। ये भावनाएँ आपके उस भार को और भी अधिक भारी करती हैं जो पहिले ही आपसे नहीं उठता है।"

इस बात की आप चिन्ता न कीजिए कि परिस्थिति आपके अनुकूल नहीं है, इस बात की भी चिन्ता मत कीजिए कि, आपके पास सम्पत्ति नहीं है। क्या हुआ यदि आपके पास भौतिक सम्पति नहीं है ? आप अपने विचारों को सम्पत्तिशील बनाइये, आप भावनाओं की दरिद्रता को निकाल दीजिए बस फिर समझिए कि आपके बराबर कोई, सम्पतिशील नहीं है। क्या हुआ यदि आपके पास पहनने को कपड़े नहीं हैं, क्या कपड़ों से ही कोई सम्पत्तिशील हो सकता है क्या जेवरों से ही

कोई धनवान हो सकता है? नहीं, नहीं, ये बाह्य सामग्रियाँ मनुष्य को सच्चा सम्पत्तिशील नहीं बना सकती। धनवान होने का रहस्य मनुष्य के अन्तर्जगत में छिपा हुआ है। आप उन लोगों से बहुत अधिक धनवान हैं जो कोट्याधीश होने पर भी मन के कङ्गाल हैं जिन्हें अपनी स्थिति से सन्ताप नहीं है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी महात्मा सुकरात का कथन है कि, वही मनुष्य सबसे बड़ा धनी है जो सबसे कम पर सन्तोष करता है। क्योंकि प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट धन सन्तोष ही है।

महा कवि शेक्सपीयर का कथन है कि मेरा मुकुट मेरे हृदय में है न कि शिर पर। वह मुकुट बहुमूल्य रत्नों और मुक्ताओं से खचित है, वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। मेरा मुकुट सन्तोष है। वह ऐसा मुकुट है जिसे संसार के बहुत कम प्रजापति पहन सकते हैं।

लार्ड कालिंगउड का कथन है कि—"दूसरों को धन के लिए प्रार्थना करने दो। मैं बिना सम्पत्ति ही धनी हो सकता हूँ। मैं प्रत्येक नीच और दरिद्र वस्तु से उत्तम बनने का प्रयत्न करूँगा। मेरी स्वदेश प्रीति में किसी प्रकार की आत्मप्रियता का धब्बा न लगने पायगा।"

जिस समय मकदुनियाँ के बादशाह सिकन्दर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की, उस समय उसे यहाँ पर एक मस्त फकीर का साक्षात्कार हुआ। फ़कीर अपनी झोंपड़ी में मस्त होकर

बैठा हुआ था। किसी ने बादशाह को उसकी खबर दी, बादशाह ने उसको लेने के लिए पालकी वगैरह भेजी। वहाँ जाकर उन लोगों ने बड़ी ही नम्रता से कहा कि, सम्राट सिकन्दर ने आपको याद फ़रमाया है। फ़कीर ने कहा कि सिकन्दर कौन है? उन्होंने आश्चर्य्य से कहा कि क्या आपने दुनियाँ के बादशाह सिकन्दर का नाम नहीं सुना? फकीर ने कहा कि मुझे उससे क्या मतलब? तुम अपने बादशाह से जाकर कह दो कि, फकीर तुम्हारी दुनियाँ से बाहर है। वह भी बादशाह है। यदि तुम्हें ज़रूरत हो तो वहीं पर चलो।

सिकन्दर इस उत्तर को सुन कर स्तम्भित हो गया। वह फौरन फकीर के पास जाकर उसके चरणों में गिर पड़ा। फ़कीर ने कहा कि, सिकन्दर तुझ में मुझ से कौन सी विशेषता है? देख तू लाखों आदमियों का खून बहाकर जमीन के छोटे छोटे टुकड़ों पर अधिकार करता फिरता है और मैं बिना किसी बाधा के सारी दुनियाँ का बादशाह हूँ। तू किस बात का अभिमान करता है क्या अपने बड़े बड़े राजमहलों का; देख तेरे उन राजमहलों से मेरी यह झोंपड़ी किस बात में कम है? उन राजमहलों के अन्तर्गत बड़े बड़े मखमली गद्दे हैं पर भी तू सुख की नींद नहीं सो सकता है पर मैं इस सुन्दर आकाश के तले, हरी हरी भूमि पर इस छोटी सी झोंपड़ी में मस्त होकर सोता हूँ। क्या तू अपनी सत्ता का अभिमान करता है? सिकन्दर उस सत्ता का क्या अभिमान जिस पर पल पल में आपत्ति

आने की सम्भावना है? पर मेरी सत्ता को देख, जिस पर कभी आपत्ति का अङ्गारा पड़ ही नहीं सकता। बतला सिक-न्दर! तू बादशाह है या मैं? तू सुखी है या मैं? सिकन्दर! सुख का वास्तविक तत्त्व राज भोगों में नहीं है, बड़े २ विलास मन्दिरों में नहीं है, अखिल विश्व की राज सत्ता में नहीं है, लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति में नहीं है। सुख का वास्तविक तत्त्व सन्तोष के अन्दर छिपा हुआ है। मुझे अपनी इस स्थिति में ही सन्तोष है इसलिए मैं सुखी हूँ, और तुझे अपनी इस विशाल स्थिति में भी सन्तोष नहीं है इसलिए तू दुखी है।

इस पृथ्वी के कुछ भाग पर अधिकार करने के लिए मैं क्यों लड़ाई करने का प्रयत्न करूँ? यह सारा संसार मेरा ही है फिर उस पर एक अवास्तविक अधिकार पाने के लिए मैं क्यों दूसरों का अनिष्ट करूँ। मुझे तुम्हारे समान नामके भूप-तियों से डाह करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि एक प्रकार की व्यर्थ की जिम्मेदारी जिससे जीवन की सारी शान्ति नष्ट हो जाती है अपने सिर पर ले लूँ। मैं जब इच्छा करूँ संसार के उत्तम से उत्तम ईश्वरीय दृश्य देख सकता हूँ और उन पर अपना अधिकार मान सकता हूँ। हरी हरी दूब, सुन्दर उद्यान, विशाल मन्दिर आदि संसार की सब वस्तुएँ मैं हर समय देख सकता हूँ। मैं उन्हें साथ नहीं ले जा सकता फिर क्यों व्यर्थ ही अधिकार का आडम्बर रचूँ। जीवन, विस्तृत भूमि, सुन्दर तारा गण, सुगन्धित पुष्प कुंज, विस्तीर्ण सागर और

वायुमण्डल, मधुर गान युक्त पक्षी, और फल युक्त वृक्ष सब मुझे प्राप्य हैं। इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए! सहस्रों युवक मेरे लिए काम कर रहे हैं। और सारी मनुष्य जाति मेरी सेविका है।

सिकन्दर! तुम्हारी सम्पत्ति तुम्हें क्या कहती है उसका तुम्हारे लिए क्या सन्देशा है? क्या वह कहती है कि खाओ, पीओ, और मौज करो क्योंकि कल तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। क्या उसका सन्देशा शान्ति, शिक्षा, ज्ञान, भ्रमण, दानपुण्य और दीनबन्धुओं की सहायता करने का है? नहीं २ सिकन्दर वह सन्देशा है भूमि धन और तृष्णा। सम्पत्ति का सन्देशा नङ्गों को वस्त्र, भूखों को अन्न, अनपढ़ों को ज्ञान, रोगियों को औषध देने का नहीं है, वह सन्देशा उदारतापूर्ण नहीं है। वह सन्देशा 'और' 'और, और", के सिवा और कुछ नहीं है। तब फिर तुम्हीं बतलाओ कि सुखी कौन है?

मस्त फकीर का यह उपदेश सुनते ही सिकन्दर हाथ जोड़ कर कहने लगा कि "महात्मन्! वास्तव में आपका कथन सत्य है, सुख मुझसे बहुत दूर है। राजा लोग कभी सुखी नहीं हो सकते। यदि मैं राजा न होता तो अवश्य इस सुख को प्राप्त करता।" ऐसा कह कर दुःखित हृदय से वह वहाँ से चला गया।

मतलब यह कि, जहाँ पर असन्तोष की अग्नि भभक रही

है। उस मनुष्य को यथार्थ धनी नहीं कह सकते। यथार्थ धनी वही मनुष्य है जिसका हृदय और मन धनिक है। जिसके विचारों से संसार की वुद्धि में उन्नति होती है।

धन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जहाँ पर वह रहता है है वहाँ पर सन्तोष नहीं फटक सकता। मनुष्य के पास यदि कुवेर को भी सम्पत्ति आजाय तो भी उसे तृप्ति नहीं हो सकती। जिस सिकन्दर का ऊपर जिक्र किया गया है उसी सिकन्दर से एक मनुष्य ने एक वार पूछा कि, वादशाह! तुम जीवन में क्या करना चाहते हो? सिकन्दरने कहा कि मैं भारत को जीतना चाहता हूँ। उसने कहा कि यदि भारत जीत लिया तो उसके पश्चात् क्या करोगे? उसने कहा कि चीन साइबेरिया और सारे एशिया को जीतूँगा। मनुष्य ने कहा कि उसके वाद? सिकन्दर ने कहा कि उसके पश्चात् मैं इस वात की कोशिश करूँगा कि, स्वर्ग, चन्द्रलोक और सूर्यलोक भी जीते जा सकते हैं या नहीं। मनुष्य ने कहा मान लो कि वे भी तुमने जीत लिये तो उसके पश्चात् क्या करोगे? सिकन्दर ने कहा कि, उसके वाद मैं लोक हितार्थ एक विशाल भोज दूँगा, जिसमें सारी ज्ञात सृष्टि के प्राणी निमंत्रित किये जायँगे। उस मनुष्य ने कहा कि सिकन्दर! वह भोज आज ही देकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट क्यों नहीं कर लेते? मनुष्य की आशाओं का अन्त नहीं है। एक के वाद दूसरी उत्पन्न होती चली जाती हैं। तुम्हारी महत्वाकांक्षाओं की मैं निन्दा नहीं करता। पर अपनी स्थिति में सन्तोष मान कर

लोकहितार्थ तुम जितना काम करना चाहते हो तुरन्त कर डालो। क्योंकि जीवन का एक क्षण का भरोसा नहीं है।

महत्वाकांक्षाओं का होना बुरा नहीं, पर अपनी स्थिति से असन्तुष्ट रहते हुए मन को नीच और संकीर्ण रखना बुरा है। कोई कोई मनुष्य प्रायः कहा करते हैं कि, यदि हमारे पास इतने रुपैये आ जायँ तो हम परोपकार के काम में हाथ लगावें। वे लोग या तो भ्रम में हैं या ऐसा कह कर संसार को धोखा देना चाहते हैं। उन्हें यदि सचमुच लोकहित में सहायता ही देना है तो जितना वे आज दे सकते हैं उतना तो दे ही डालना चाहिए। फिर जैसे जैसे उनकी सम्पत्ति बढ़ती जाय देते रहना चाहिए।

कोई मनुष्य चाहे कितना हो धन और भूमि का स्वामी क्यों न हो यदि उसका मन नीच और संकीर्ण है तो वह कभी धनवान नहीं कहा जा सकता। यदि उसके विचार दरिद्र हैं तो वह अवश्य धनहीन है, चाहे वह राजाओं का राजा ही क्यों न हो। मनुष्य के मानसिक विचार उसे धनवान होने में जितनी सहायता देते हैं उतनी सहायता भौतिक सम्पत्ति नहीं दे सकती।

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो स्वास्थ्य, चिर प्रसन्नवदन और चञ्चल स्वभाव के कारण जिससे वे कठिनाइयों और बाधाओं को तैर कर पार कर जाते हैं, और जिस स्थान पर जाकर सैकड़ों साधारण लोग डूब मरते हैं, उस स्थान पर जाकर स्थिर चित्त से खड़े हो जाते हैं और सम्पत्तिशील हो

जाते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो चरित्र, स्वभाव, वंश और मित्रमण्डली के कारण धनी होते हैं, कुछ मनुष्य इतने सज्जन होते हैं कि, सब लोग उनसे स्नेह करते हैं, और इसी स्नेह से उत्साहित होकर वे धनवान हो जाते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि उनके पास एक पैसा न होने पर भी जहाँ वे जाते हैं वहाँ उन्हें आनन्द ही आनन्द दिखाई देता है। वे बिना सम्पत्ति के ही सम्पत्तिशील हैं।

एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है—"वस्तुओं के उचित मूल्य का अध्ययन करना भी जीवन की सर्वोच्च शिक्षाओं में से एक है। नवयुवक जब जीवनयात्रा में अग्रसर होता है तो कई प्रकार के प्रलोभन उसके सम्मुख आकर उपस्थित होते हैं। उन प्रलोभनों की यथार्थ जाँच करके उनमें से अपने योग्य कार्य्य को ग्रहण करने पर ही जीवन की सफलता निर्भर है। अधम सम्पत्ति उसके सम्मुख उपस्थित होकर अपनी पताका फहरावेगी। प्रत्येक व्यवसाय अपना बाहरी सौन्दर्य्य दिखा कर उसे लुभाने की चेष्टा करेंगे। इन बाह्य आडम्बरों के भ्रम में न पड़ कर जो व्यक्ति वास्तविकता की ओर ही अधिक ध्यान देता है, वही वास्तविक सफलता प्राप्त करता है।

जिसके पास रुपया नहीं वह मनुष्य धनहीन अवश्य है परन्तु जिस मनुष्य के पास केवल रुपया है वह उससे भी अधिक दरिद्र है। जो अपने धन को सन्तोष से भोग करता है वही धनवान है। लोभी मनुष्य असंख्य धन का स्वामी होने

पर भी दरिद्र है। और विचारों की उच्चता वाला मनुष्य धन-हीन होने पर भी धनवान है।

महात्मा बुद्ध ने इतने बड़े राज्य, इतनी बड़ी सम्पत्ति, इतनी सुन्दर स्त्री को छोड़ कर क्यों वैराग्य ग्रहण कर लिया? महावीर ने भी क्यों इतने बड़े राज्य को लात मार कर जंगल की राह ली? क्या वे जंगल में जाने पर निर्धन हो गये? नहीं यदि ऐसा होता तो वे उस सम्पत्ति को छोड़ते ही नहीं। उन्हें उस अतुल वैभव में भी अपूर्णता दिखाई दे रही थी, वे पूर्ण सम्पत्ति को प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि मनुष्य का सबसे आवश्यक भोजन मुख के मार्ग से नहीं जाता है। वे जानते थे कि मनुष्य केवल भूमि, धन और रोटी से ही जीवित नहीं रह सकता। और यदि रहता भी है तो पशुवत अज्ञान अवस्था में। उनका विचार था कि उच्च जीवन के लिए उच्च भोजन की आवश्यकता होती है। वे जानते थे कि सत्य और सन्तोष की अमृतधारा ही मनुष्य के जीवन को उच्च बनाती है। यदि इन तत्वों का सदुपयोग किया जाय तो निकृष्ट जीवन में भी सौन्दर्य्य और दुराचरण में भी सदाचरण की आभा मिलती है।

नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले प्रत्येक मनुष्य को उपरोक्त दृष्टान्तों का ध्यान रखना चाहिए। उसे खयाल रखना चाहिए कि, पैसा कमाना बुरा नहीं है पर उसमें लिप्त हो जाना बुरा है। पैसे को पैसे की ही निगाह से देखना चाहिए, न कि माँ,

चाए, आनन्द और सन्तोष से भी बढ़ कर गिनना चाहिए। आप चाहे लखपती हों चाहे करोड़पती अथवा आपके पास चाहे एक पैसा भी न हो, पर अपनी स्थिति में हमेशा सन्तोष रखिए। पैसा कमाने का प्रयत्न करें तो भी सन्तोष के साथ। यदि आपके पास पैसा नहीं है पर हृदय में सन्तोष है तो निश्चय समझिए कि, आप किसी करोड़पति से कम नहीं हैं। पैसे के लिए अपना नैतिक पतन कर डालना महा भयङ्कर है। याद रखिए यदि संसार के अन्दर मनुष्य जाति का अनिष्ट करनेवाली कोई भयङ्कर वस्तुएँ हैं तो केवल दो हैं। कामिनी और कांचन, इन्हीं दो चीज़ों के कारण संसार में अशान्ति का तहलका मच रहा है। इन्हीं दो वस्तुओं के कारण संसार से मनुष्यत्व का लोप हो रहा है। इन्हीं दो वस्तुओं के कारण संसार में प्रेम की भागीरथी के स्थान पर खून की नदियाँ बह रही हैं। यदि इन दो वस्तुओं से निर्लिप्त रहते हुए आप कर्म-क्षेत्र में कार्य करते रहें तो निश्चय समझिये कि, सुख शान्ति और आनन्द की धाराएँ हमेशा आपके जीवन-पथमें प्रवाहित होती रहेंगी।

इससे हमारा मतलब यह नहीं है कि मनुष्य धनोपार्जन से बिलकुल ही विरक्त हो जाय या अपना विवाह ही न करे। नहीं, इससे तो और भी कायरता ज़ाहिर होगी, धनोपार्जन आप अवश्य करें, विवाह के लिए भी कोई मनाई नहीं है, पर याद रखिए कि, इन दोनों बातों के साथ साथ धर्म का भी

ध्यान रखते जायँ। मनुष्यत्व को भी स्थान देते जायँ। आप धन का अवश्य संग्रह करिये पर याद रखिये कि उसकी एक एक कौड़ी स्वच्छ हो। उसमें दरिद्रों का रुदन, अनाथों की आह और विधवाओं के आँसू मिश्रित न हों। याद रखिए कि तुम्हारे धन से दूसरे लोग दरिद्र और कष्ट ग्रसित न होने पावें।

यदि धर्मपूर्वक धन का संग्रह ही न हो सके तो उसे छोड़ देना ही अधिक श्रेयस्कर है। आपको अधर्म से उपार्जन करने की आवश्यकता क्या है? दोनों वक्त खाने के लिए आपको भर पेट रोटी मिल जाती है, और पीने को ठण्डा पानी यदि आपको प्राप्य है, और उसके साथ साथ यदि आपके विचारों में सन्तोष और उच्चता का मिश्रण है तो फिर आप किसी बादशाह से कम नहीं हो सकते। एक उच्च हृदय महान् आत्मा दीन से दीन घर को भी ऐसे सौन्दर्य और प्रभा से पूर्ण कर देगी कि, उसकी बराबरी किसी दूसरी सजावट की सामग्री से नहीं की जा सकती। चरित्र और सन्तोष में कौन धनी होना न चाहेगा? जो कोई सभ्यता का उन्नायक और मानव-जाति का मित्र है वह दीन हीन अवस्था में मरने पर भी धनवान है। भविष्य में बन्धुवर्ग उसका स्मारक-चिन्ह अवश्य बनावेंगे।

(७)

मितव्ययिता

"किसी का तनिक भी ऋणी होना बुरा है" इस वाक्य को बड़े बड़े अक्षरों में लिखकर प्रत्येक स्कूल, मन्दिर, गृह और कमरे में चिपका देना चाहिए।

ऋण से कैसी कैसी भयङ्कर और दुर्दान्त आपत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, कैसी नीचता आत्मप्रियता, घोर चिन्ता और दुर्व्यवहार का आविर्भाव होता है, समय के प्रवाह में पड़ कर वह किस प्रकार निर्मल और निष्कपट मुख पर झुर्रियाँ डाल देता है, किस निर्दयता से वह अपने स्वच्छ हृदय पर वज्राघात करता है, ऋण का धक्का मनुष्य की सत्यनिष्ठता का नाश कर किस प्रकार कपटी और धोखेबाज़ बना देता है। ऋण से उऋण हुए पश्चात् शीतल जल और सूखी रोटी भी कैसी रुचिकर मालूम होती है। विश्वास रक्खो कि, जो बिना ऋण के भोजन करता है उसको राजप्रासाद के जनागार से भी अधिक सुख मिलता है उसे फटे हुए कोट में भी कितना आनन्द अनुभव होता है, यदि उसने कपड़े और सिलाई का बिल चुका दिया है। उस स्वतन्त्र मनुष्य का गार्हस्थ्य सुख कैसा अनुपम होता है जिसके हृदय में घरका बाहरी द्वार खुलने पर भी ऊहापोह उत्पन्न नहीं होता, जीने पर पैरों की आहट सुनने पर भा जिसकी नाड़ी में धड़कन उत्पन्न नहीं

होती और द्वार खटकने पर जो बिना सन्देह आगन्तुक को आने की आज्ञा दे सकता है। यात्रा में वह किसी यात्री के सम्मुख आँख नीची करके लज्जायमान नहीं होगा। दरिद्रता कड़वी दवा है, पर वह सुगमता से निर्धारित की जा सकती है।

वह मनुष्य दुःखी नहीं है जिसके पास पैसा नहीं है, वह मनुष्य दुःखी नहीं है जो कष्ट कर मज़दूरी करने पर भी तरमाल नहीं खा सकता। वह मनुष्य दुःखी नहीं है जो अधिक पढ़ा-लिखा नहीं है। यहाँ तक कि, वह भी अधिक दुःखी नहीं है जिसे दोनों समय बराबर खाने को भोजन नहीं मिलता। सच्चा यथार्थ और सबसे अधिक दुःखी वही है जिसका खर्च आमदनी से अधिक है।

एक लेखक ने लिखा है कि—वार्षिक आय सौ रुपैये वार्षिक व्यय निन्यानवे रुपये पौने सोलह आने—फल, सुख, शान्ति, और सन्तोष। वार्षिक आय सौ रुपये; वार्षिक व्यय सौ रुपया पाव आना। फल-कष्ट, दरिद्रता और ऋण।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने लिखा है—"ऋण कर्ता पिता शत्रु ? जो पिता पुत्र के लिए एक पैसे की सम्पत्ति नहीं छोड़ जाता, जो अपने पुत्र के लिए मकान, धन, धान्य, जमीन आदि कुछ भी नहीं छोड़ जाता, वह पिता भी पुत्र का शत्रु नहीं है क्योंकि, कम से कम वह अपने पुत्र को अपने पैरों पर खड़े होने का अवकाश तो देता है। वास्तविक शत्रु तो वही है जो

पुत्र पर ऋण का बोझा लाद जाता है। उसको सिर उठाने का अवकाश भी नहीं देता।

जो मनुष्य आवश्यकताओं का गुलाम है वही संसार में सबसे अधिक दुःखी है। आपके पास पैसा नहीं है तो कोई परवाह नहीं, क्योंकि आप अपनी आवश्यकताओं पर संयम तो कर सकते हैं। बस फिर कोई दुःख नहीं है। आप जितना कमाते हैं उतना ही या उससे कुछ कम में ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लीजिए। वह मनुष्य बुद्धिमान नहीं है जो नये नये कपड़े पहन कर समाज में अपनी धाक जमाना चाहते हैं, वह भी बुद्धिमान नहीं है जो विवाह शादियों में हजारों रुपये फूँक देता है, वह भी बुद्धिमान नहीं हैजो हजारों रुपये पैदा करता है। यथार्थ में बुद्धिमान वही है जो धन का उचित रीति से व्यय करता है। धन का उचित रीति से व्यय करना बहुत ही कम लोग जानते हैं। वे उपार्जन कर सकते हैं, उड़ा सकते हैं, सञ्चित, करके रख सकते हैं, अथवा व्यर्थ व्यय करके नष्ट कर सकते हैं, परन्तु बुद्धिमानी से उचित रीति से किसी श्रेष्ठ कार्य में उसे व्यय करना ऐसी विद्या है जिसे प्राप्त करना कठिन कार्य्य है। मूर्खों के लिए धनवान होना ही उनके नाश और पतन का मुख्य कारण होता है। धनोपार्जन करना कितना ही सुगम क्यों न हो, परन्तु उसका रखना ही सबसे कठिन कार्य्य है।

एक बड़े भारी करोड़पति सेठ थे। उनके पास दो महिलाएँ

एक धार्मिक कार्य्य के लिए कुछ धन माँगने के लिए गईं। उनके जाने के पूर्व वे कुछ लिख रहे थे। और उनके पास दो चिराग जल रहे थे। जब वे महिलाएँ उनसे बात करने लगीं तो उन्होंने एक चिराग़ बुझा दिया। इस घटना से वे महिलाएँ मन ही मन बड़ी निराश हुईं। उन्होंने सोचा कि जो आदमी एक चिराग़ का खर्च भी जब सहन नहीं कर सकता है, वह हमें क्या देगा? पर जब महिलाओं ने उनसे याचना की तो उन्होंने फौरन पचास पौण्ड उनको दे दिए। तब उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने सेठ से कहा कि हमें यह उम्मीद नहीं थी कि, एक चिराग का खर्च सहन न करनेवाला व्यक्ति हमें इतनी रकम दे देगा। इस पर सेठ ने कहा कि, बहनों! मितव्ययिता के ही जरिये मैं इतना धन उपार्जन कर सत्कार्यों में व्यय कर सकता हूँ, बात करने के लिए एक दीपक का प्रकाश काफ़ी है।"

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मितव्ययिता और कंजूसी को एक समझते हैं। पर वास्तव में देखा जाय तो इन दोनों में बहुत अधिक भेद है। मितव्ययिता धन का अपव्यय करने से रोकती है, सद्व्यय से नहीं, पर कंजूसी सद्व्यय और अपव्यय दोनों से रोकती है। कंजूस के लिए पैसा प्राणाधार है पर मितव्ययी के लिए वह हाथ का मैल है। हाँ, इतना अवश्य है कि, मितव्ययी आमदनी से अधिक खर्च न करेगा। और आम-

द्नी का उपयोग भी किसी बुरे कार्य्य में नहीं प्रत्युत सत्कार्य्य में ही करेगा।

दृढ़ मितव्ययिता आर असीम साहस से ही मनुष्य दरिद्र होने पर भी इतना दान कर सकता है जिसे देख कर संसार आश्चार्य्यान्वित हो जाता है। वस्तुतः धनहीन और मध्यमावस्थित मनुष्य ही धर्म कार्य्य और दीन सहाय में अधिक व्यय करते हैं। अल्प और परिमित व्यय के द्वारा ही वे बड़े बड़े धनवानों को प्रशस्त कर देते हैं।

कंजूसी नैतिक जीवन के लिए जितनी ही घातक है, मितव्ययिता उतनी ही अधिक उपयोगी है। यदि मनुष्य अपने जीवन को शान्तिमय बनाना चाहता है, यदि वह जीवन संग्राम में पूर्ण आज़ादी के साथ आगे बढ़ना चाहता है, यदि वह समाज और देश की सच्ची सेवा करना चाहता है तो हमेशा उसे अपनी आवश्यकताओं को कम करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। आयको बढ़ाना आसान नहीं है। सब आदमी अपनी इच्छानुसार आय नहीं बढ़ा सकते। इसके अतिरिक्त आय बढ़ाने में कुछ न कुछ पाप और अनीति भी करना पड़ती है। पर आवश्यकताओंको संयमित करना सबके लिए सम्भव है। उसमें पाप करने की भी आवश्यकता नहीं। इससे दो लाभ होते हैं एक तो आवश्यकताएँ कम करने से आत्मा का नैतिक विकास होता है, क्योंकि ऐसा करने से वे विलास सामग्रियाँ जोहमारे जीवन को पतित करती हैं, जो हमारे जीवन

को नैतिकता को नष्ट करती हैं आना रुक जाती हैं। दूसरे हमें आय वढ़ाने की चिन्ता नहीं करना पड़ता और हम उन सब पापों से वच जाते हैं, जो आय वढ़ाने के लिए हमें करना पड़ते हैं ? इसके अलावा हम एक ऐसे पाप से भी वच जाते हैं जो मनुष्य जीवन का परम शत्रु है। ऋण से मनुष्य की आत्मा का ऐसा अधः पतन हो जाता है कि फिर उसका उत्थान होना महा कठिन हो जाता है। इस शत्रु से हमेशा मनुष्य को वचे रहना चाहिए। यदि आपको अच्छे अच्छे कपड़े पहनने के लिए नहीं मिलते तो खादी पहन कर भी सन्तोष कर सकते हैं, यदि आपको नये कपड़े नहीं मिलते तो फटे कपड़ों पर भी सन्तोष कर सकते हैं। कपड़ों से या फ़िजूल खर्ची से कोई इज्ज़त का पात्र नहीं हो सकता। यदि समाज ऐसे ही विलासी आदमियों की इज्जत करता है तो उसकी भी परवाह न कीजिए। वह समाज अप्रमाणिक और अधम है जो एक मितव्ययी की अपेक्षा एक विलासी और फिजूल खर्ची आदमी को अधिक सम्मान प्रदान करता है। ऐसे समाज की परवाह करके मितव्ययिता को तिलांजलि देना और फिजूल खर्ची वनना वड़ा भारी नैतिक पाप है।

---

(८)

वाधाओं का सामना।

प्रत्येक नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति के मार्ग में

सैकड़ों भयङ्कर से भयङ्कर बाधायें उपस्थित होती हैं। प्रकृति इसी ढङ्ग से उसकी परीक्षा लेती है। जो मनुष्य विघ्न बाधाओं से घबरा कर उनसे दूर भागना चाहता है जो अपने आपको कठिन परीक्षा के आँच में डालने से डरता है, वह कभी जीवन क्षेत्र में सफलता पूर्वक अग्रसर नहीं हो सकता। पर जो आदमी बाधाओं से वीरता पूर्वक युद्ध करता है, जो बहादुरी के साथ उनको पैरोंतले कुचल कर आगे बढ़ता है वह शीघ्र ही सफलता के उस दिव्य मन्दिर में पहुँच जाता है जिसके लिए सारा संसार तरसता है।

जिस प्रकार भयङ्कर आँच में तपाए बिना सोने का असली रंग प्रकट नहीं हो सकता, जिस प्रकार मीजे बिना फूलकी वास्तविक खुशबू नहीं मिल सकती और जिस प्रकार बिना रगड़ खाये पत्थर में से चमक पैदा नहीं हो सकती उसी प्रकार बिना बाधाओं की आपत्ति में तपे मनुष्य का भी असली रूप प्रगट नहीं हो सकता।

महाराणा प्रतापसिंह का नाम इतिहास के अन्दर हर्गिज़ इतना गौरव के साथ नहीं लिया जाता यदि वे देश के लिए पहाड़ पहाड़ और जङ्गल जङ्गल की खाक छानते न फिरते। शिवाजी कभी छत्रपति नहीं कहलाते यदि बाधाएँ उनका साथ न देतीं। नैपोलियन का नाम कभी भी प्रातःस्मरणीय नहीं हो सकता था यदि वह बाधाओं से घबरा कर चुप बैठ जाता।

मनुष्य जीवन का जितना विकास बाधाओं की अग्नि में

होता है, जीवन-कुसुम विघ्नों की कड़ी धूप में जितना अच्छा खिलता है उतना शान्ति की ठण्डी छाया में कदापि नहीं खिल सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि क्रान्ति की शताब्दियों में जितने महापुरुष संसार में अवतीर्ण हुए हैं उतने शान्ति के ज़माने में नहीं हुए। शान्तियुक्त कई शताब्दियाँ भी महात्मा बुद्ध, महावीर, ईसा, प्रतापसिंह, सुकरात, और नैपोलियन को पैदा नहीं कर सकतीं। इसका यह मतलब नहीं है कि, शान्ति के ज़माने में महान आत्माएँ अवतीर्ण हो नहीं होतीं। होतीं अवश्य हैं, पर शान्ति के कारण उनका विकास नहीं हो पाता। शान्त संसार को उनकी आवश्यकता नहीं होती। और इसी कारण वे कर्मक्षेत्र में आगे भी नहीं आ सकते। न मालूम कितने प्रतापसिंह और शिवाजी इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर चले गये होंगे पर उनका नाम भी आज हमें नहीं मालूम है। बाधाओं की अग्नि में वे नहीं तपे। उनका असली रूप संसार को दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वे जैसे संसार में आये वैसे ही चले गये।

अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध लेखक एडमण्ड बर्क का कथन है कि "विपत्ति वह पदार्थ है जो प्रकृति की ओर से हमारे लिये नियुक्त की हुई है। इस पदार्थ को जीवनक्षेत्र के मार्ग में रखकर प्रकृति ने हम पर बहुत उपकार किया है। विपत्ति एक शिक्षक की तरह हमसे द्वन्द युद्ध करती है हमारे शरीर को पुष्ट करती है और हमें अधिक चतुर बनाती है। वह हमारे

विपत्ती की तरह हमारे सामने उपस्थित होकर मित्र का काम करती है। बाधाओं से युद्ध करके हम दृढ़ बनते जाते हैं। और अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होने में ज़्यादा सफल होते हैं।

उर्दू में एक साधारण कहावत है कि "नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा।" वास्तव में यह कहावत बहुत ही महत्त्व पूर्ण है। यह निश्चित है कि, नादान मित्र लोग अपने साधारण ममत्व के कारण हमें हमारे दोषों से वाक़िफ़ नहीं करते। वे केवल हमारे गुणों को बतला बतला कर हमारी प्रशंसा करते हैं पर इससे हमारी बड़ी हानि हो जाती है। पर शत्रु लोग बे मुलाहिज़े हमारी कमजोरियों और दुर्बलताओं पर आक्रमण करते हैं। हम उनके धक्कों से उतने ही भयभीत रहते हैं जितने जर्राह के औज़ारों से। और बहुत ही शीघ्र उनसे रक्षा करने का प्रयत्न कर लेते हैं।

हम अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं पर वह बल जिससे हम उन्हें पराजित करते हैं उन्हीं का उत्पन्न किया हुआ होता है। उनके विरोध के बिना हम कभी भी दृढ़ और अभेद्य किले में न बैठते। परीक्षा कष्ट और शोक हमारी शक्ति को बढ़ाते और विस्तारित करते हैं। वे महापुरुष जिन्होंने संसार को उच्च बनाया है सुख और आनन्द से नहीं पले थे। वरन् वे बाल्यकाल में शोक के पलने में झूले थे।

अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक एडिसन का कथन है कि

"देवगण" अपनी असीम उदारता और कृपा से हमारे चारों ओर बड़ी बड़ी प्रचण्ड आँधी उठाया करते हैं। इसी आँधी के प्रताप से वह शक्ति काम में आती है जो प्रकाश से घृणा करती है और जो जीवन के शान्त और अचंचल भाग में छिपी पड़ी रहती है।

प्रकृति जिस मनुष्य का जितना ही विकास करना चाहती है, उतनी ही कठिन बाधाएँ उसके मार्ग में रख देती है। मुगल साम्राज्य के प्रवर्तक सम्राट बाबर को कितनी बाधाओं का सामना करना पड़ा। कितनी बार उसके सामने जीवन मृत्यु का प्रश्न उपस्थित हुआ, कितनी बार उसके सामने पराजय की भयङ्कर मूर्ति आकर उपस्थित हुई, पर प्रकृति की इन सब परीक्षाओं में वह रंचमात्र भी विचलित नहीं हुआ। बाधाओं में हमेशा वह सुमेरु की तरह अचल रहा। परिणाम इसका क्या हुआ कि, मुगल साम्राज्य के समान विशाल राज्य की नींव डालने में वह समर्थ हुआ।

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक "स्माइल्स" अपनी "स्वावलम्बन" नामक पुस्तक में लिखते हैं कि, कठिनाइयों पर विजय पाने के प्रयत्न से ही सफलता उत्पन्न होती है। यदि कठिनाइयाँ न होतीं तो सफलता ही कोई वस्तु न होती। इसी उद्योग की आवश्यकता से मानव जाति की उन्नति होती है।"

नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अभिलाषा और प्रयत्न के लिए कोई निर्विघ्न वा सुखमय पथ न

ढूँढ़ना चाहिए। कोई भी विना कठिनाइयों से लड़े वा प्रत्यक्ष साहस वर्द्धक वस्तुओं से भिड़े, अपनी इच्छा के अनुसार ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु यदि उनका उचित रीति से विरोध किया जाय तो वे जो असाध्य प्रतीत होती हैं वस्तुतः वैसी नहीं रहती और कदाचित् बाधक होने के बदले साधक होती हैं। बाधाओं को काटने के अभ्यास के समान शायद दूसरा कोई अभ्यास नहीं होगा।

सुख मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाता है बल्कि प्रयत्न उसे मनुष्यत्व की ओर ले जाता है, इसी प्रकार सुगमता मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाती प्रत्युत कठिनाई उसको नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। विपत्ति मूर्खों को भड़काती है बुद्धिमान और परिश्रमी मनुष्यों में नवीन योग्यता का संचार करती है। अनुद्योगियों को अपनी बुद्धि की परीक्षा करने पर बाध्य करती है और आलसियों को परिश्रमी बना देती है। अबाध्य सफलता और यश मनुष्य को कभी उपयोगी वा सुखी नहीं बना सकता। विपत्तियों की आँधी समुद्र की आँधी की भाँति गुप्त शक्ति को प्रगट करती है, और यात्रियों की सहनशीलता, धैर्य्य, बुद्धिमानी और दूरदर्शिता की परीक्षा करती है। वह मनुष्य जिस पर सर्वदा सूर्य्य का प्रकाश रहता है, ज्येष्ठ मास की भूमि के समान सूख कर भस्म हो जाता है—कठोर और सङ्कीर्ण हो जाता है। मनुष्यों ने विपत्तियों से ही बड़े बनने का आधार पाया है। दौड़ दौड़ कर जान पहचान वालों से अपने दुर्भाग्य

की बात न कहते फिरो, क्योंकि लोग भाग्यहीनों से जान पहचान नहीं रखना चाहते।

एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है कि प्रकृति हमारी शक्तियों को प्रकट करने के लिए हमें निर्दयता से सब ओर से दबावेगी। वह हमारा धन हरण कर लेगी। हमारे घमण्ड को चूर चूर कर देगी। हमारे हृदय की उमङ्गों को नष्ट कर देगी यश को सीढ़ी से ढकेल देगी और सहस्रों प्रकार के कष्ट देगी जिससे हम कुछ सदाचार ग्रहण करें। प्रकृति की इस शक्ति के सम्मुख सब वस्तुएं मस्तक नमाती हैं। धन कुछ नहीं, पद कुछ नहीं, यश कुछ नहीं, मनुष्यत्व ही सब कुछ है। प्रकृति आनन्द, सुख, आराम, कुछ नहीं चाहती, चाहती है केवल मनुष्य। ईश्वर की अगणित सृष्टि में प्रत्येक वस्तु एक ही प्रधान वस्तु की ओर ताकती है, मनुष्य ही वह वस्तु है। प्रकृति प्रत्येक पन्ने पर यही विचार अंकित करती है। प्रत्येक विरचित वस्तु के कान में इसी की घोषणा करती है। प्रत्येक फूल से इसी की खुशबू निकलती है, प्रत्येक तारे में इसी की चमक रहती है।

इन सब वाक्यों का सार यही निकलता है कि, मनुष्य के मार्ग में आनेवाली बाधाओं के अन्दर ही सफलता का दिव्य रहस्य छुपा हुआ है। जो लोग उस दिव्य रहस्य को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें कभी बाधाओं से न डरना चाहिए। बल्कि उनका उचित उपयोग करना चाहिए।

(६)

आत्म-संयम ।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो का कथन है कि, "प्रथम और सर्वोत्तम जीत मनुष्य के लिए आत्मा पर विजय पाना है। अपने आपसे विजित होना सब कामों से निकृष्ट और लज्जाजनक है।"

मनुष्य के मानसिक विकारों में संयम ही उसका सबसे बड़ा मित्र और प्रलोभन एवं वासना ही सबसे बड़े शत्रु हैं। जिस जाति के अन्दर जिस देश के अन्दर जिस व्यक्ति के अन्दर वासनाओं के भाव उच्छृंखलित होकर प्रवाहित होने लग जाते हैं, समझ लीजिए कि उस देश, जाति और व्यक्ति का पूर्ण पतन अत्यन्त समीप है। किसी भी देश के इतिहास का अध्ययन कीजिए, किसी भी जाति के पतन का अध्ययन कीजिए, आपको मालुम होगा कि पतन होने के पूर्व उसका आत्म-संयम अवश्य नष्ट हो गया होगा। हो नहीं सकता कि, आत्म-संयम युक्त देश अथवा जाति का किसी भी दृष्टि से पतन हो जाय।

अंग्रेज़ जाति को देखिए। उनके अन्दर आपको आत्म-संयम की बहुत ऊँची २ भावनाएँ मिलेंगी। जिस दृष्टिबिन्दु से वे आत्मसंयम की व्याख्या करते हैं, उसी दृष्टिबिन्दु से वे उसका पालन भी करते हैं। आप देखेंगे जब उनके देश पर

किसी प्रकार की विपत्ति आती है उस समय सब लोग अपनी अपनी कुप्रवृत्तियों को एक ओर ताक में रख कर आज़ादी के लिए प्राणों का मोह छोड़ कर रणमैदान में टूट पड़ते हैं। आप देखेंगे कि उनमें से एक अँग्रेज़ दूसरे अँग्रेज़ के विरुद्ध किसी विजातीय से मिल कर उसका अहित न करेगा। इन्हीं भावनाओं के कारण आप अंग्रेज़ जाति के इतिहास में कहीं भी गुलामी का अन्धकार न देखेंगे।

इनके विरुद्ध आप भारत के इतिहास का अध्ययन कीजिए, आज से नहीं हज़ारों वर्ष पहले से महाभारत के समय से या उनसे भी पहले से यह देश आत्मसंयम की भावनाओं को भूल गया था। भरी सभा में द्रौपदी का चीर हरण, राजा विराट् के यहाँ कीचक के द्वारा द्रौपदी का अपमान आदि घटनाएँ और कौरवपाण्डव का युद्ध उस समय के आत्म-संयम के पतन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब उस समय के उच्च श्रेणियों के आदमियों की यह अवस्था थी तो यह निश्चय है कि साधारण जनता में आत्मसंयम की भावनाओं का इससे भी अधिक घोर पतन होगा। उसके पश्चात् का इतिहास तो और भी भयङ्कर है इसका विस्तृत विवरण हम आगे किसी अध्याय में करेंगे। यहाँ हम इतना ही बतलाना चाहते हैं कि, भारत-वर्ष के पतन होने का मूल कारण देश के आत्मसंयम का पतन ही है।

नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले प्रत्येक मनुष्य का आत्म-

संयमी होना अत्यन्त आवश्यक है, बल्कि यों कहिए कि आत्मसंयम का ही दूसरा नाम नीतिमता है। जहाँ तक मनुष्य अपनी कुवासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता वहाँ तक उसका जीवन नैतिक नहीं कहा जा सकता। यहाँ हम मनुष्य की उन थोड़ी सी कुप्रवृत्तियों का विवेचन करते हैं जिनके फेर में पड़ कर मनुष्य अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है।

काम-विकार।

जिसके फेर में पड़ कर महाबली रावण का ध्वंस हुआ, जिसने बालि के समान वीर का पतन कर डाला, जिसके फेर में पड़ कर संसार के बहुत से नवयुवक नष्ट भ्रष्ट हो गये, उस विकार पर संयम करना प्रत्येक नवयुवक के लिए कितना अधिक आवश्यक है यह कहने की ज़रूरत नहीं।

इस विकार के फेर में पड़ कर नवयुवकों की शारीरिक और आत्मिक शक्ति का नाश हो जाता है। डाक्टर निकोलस का कथन है कि "वैद्यक शास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि शरीर का उत्तम रक्त जीवन के तत्त्वों को उत्पन्न करता है। और ये सब तत्त्व आरोग्य एवं मनुष्य शरीर में वापस जाकर रक्त में मिल जाते हैं, और उससे उत्तम से उत्तम मस्तिष्क, ज्ञानतन्तु और मांस पिंड बनाते हैं यही मनुष्य का जीवन है। यदि ये

प्रत्येक अङ्ग में प्रसारित हो जाते हैं तो मनुष्य साहसी, बलवान, पुरुषार्थी एवं पराक्रमी बन जाता है। और इसके विपरीत उसका दुरुपयोग करने से विषयी और निर्बल बन कर अन्त में मृत्यु का शिकार हो जाता है।......वीर्य्य की रक्षा करने से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन का विकास सुचारु रूप से होता है। जब वीर्य्य का व्यय बन्द हो जाता है और वह संचित हो जाता है। तब प्रकृति उसका उपयोग उत्तम मस्तिष्क एवं सशक्त शरीर के बनाने में करती है।

यह तो डाक्टरी दृष्टि से इसका अनुसन्धान हुआ। नीति की दृष्टि से भी यह विकार महा भयङ्कर है। नीति में कहा है कि—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पंडितः॥

हमारे यहाँ पराई स्त्री और वैश्या सेवन व्यसन के अन्दर कहा गया है। शास्त्रकारों ने स्थान स्थान पर ज़ोर दे देकर कहा है कि पराई स्त्री को माता के समान समझो। समाज की शान्ति इन्हीं नियमों पर निर्धारित है। पर स्त्री के सेवन करने-वालों को राज्य की ओर से भी दण्ड नियुक्त है। इस प्रकार के विकारों के वशीभूत कामियों ही के कारण संसार और समाज में विशृंखलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए प्रत्येक नवयुवक को चाहिए कि इस नीच वासना पर संयम कर अपने शरीर की और समाज की शान्ति की रक्षा करे। अब

हम उन चन्द उपायों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा उच्छृंखल युवक सहज ही में अपने विकारों का संयम कर सकता है।

(१) प्रति दिन शारीरिक व्यायाम अवश्य करना चाहिए। इन्द्रिय निग्रह के लिए यह व्यायाम बहुत सहायता देता है। प्रतिदिन दो तीन बार इतना व्यायाम करना चाहिए कि शरीर से पसीना चूने लग जाय। प्राणायाम भी विचलित इन्द्रियों को वश में करने का एक अत्युत्कृष्ट साधन है। जब कभी हमारे मन में खराब विचार उत्पन्न होने लगें तो उसी समय पद्मासन लगा कर प्राणायाम करना चाहिए जिससे खराब विचार एक दम भग जाय। जिनको यह उपाय सुगम न हो उन्हें खराब विचारों के आते ही एकदम शारीरिक व्यायाम शुरू कर देना चाहिए। इससे नब्बे सैकड़ा फ़ायदा होता देखा गया है।

इन सब उपायों को सफल करने के लिए प्रथम एवं मुख्य शर्त यही है कि आत्मसंयम और पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये मनुष्य के हृदय में प्रबल उत्कण्ठा होनी चाहिए। यदि मनुष्य के हृदय में यह उत्कण्ठा न हुई तो इसका सफल होना दुःसाध्य है।

(२) हमेशा किसी न किसी कार्य्य में संलग्न रहना चाहिए यह भी एक प्रधान उपाय है। स्वामी दयानन्द से किसी ने पूछा कि "महाराज आपको भी कभी काम विकार सताता है? उन्होंने उत्तर दिया कि मैं हमेशा किसी न किसी कार्य्य में

संलग्न रहता हूँ। काम विकार के लिए मेरे हृदय में कभी अव-काश ही नहीं रहता।

(३) पवित्र जीवन व्यतीत करने के शुभ विचार और उससे होनेवाली आत्मोन्नति तथा शारीरिक सौन्दर्य्य की वृद्धि पर एक साथ विचार करो। काशी और हरिद्वार में मिलने वाले कितने ही साधुओं को देखने से विश्वास होगा कि, ब्रह्म-चर्य्य और पवित्रता के प्रताप से वृद्धावस्था में भी शारीरिक सौन्दर्य्य किस प्रकार स्थिर रह सकता है।

(४) यह शरीर प्रभु का पवित्र मन्दिर है इस कारण मेरा कर्तव्य है कि मैं उस मन्दिर को हमेशा पवित्र और शुद्ध रक्खूँ। ऐसे विचार हमेशा शरीर के अन्दर रखने से अपवित्र विचार दूर रहते हैं। सेण्टपाल पापियों को सम्बोधन करके कहता है कि—"क्या तुम नहीं जानते कि, तुम ईश्वर के पवित्र मन्दिर हो, उसका अंश तुममें विराजमान है यदि कोई मनुष्य प्रभु के मन्दिर को अपवित्र करेगा तो वे उसका नाश करेंगे, क्योंकि प्रभुका मन्दिर पवित्र है और वह तुम्हारी देह है।"

(५) कामविकार को दूर करने का रामबाण उपाय विशुद्ध प्रेम है। जब मन दुष्ट विचारों की ओर आकर्षित होता हो उस समय उसके सम्मुख ऐसा प्रबल आकर्षक पदार्थ रखना चाहिए, जिससे वह उसी की ओर आकर्षित होने लग जाय। जब मनुष्य के हृदय में प्रभु के प्रति पवित्र प्रेम उत्पन्न हो जायगा तब वह आपही आप इस क्षणिक लालसा की

ओर जाने से रुक जायगा। जबतक हृदय को खींचकर अपनी ओर करनेवाली वस्तुएँ उसकी ओर न रक्खी जायँगी, तब तक वह अधम और क्षुद्र वस्तुओं में लिप्त रहेगा। प्रभु प्रेम का प्याला पिलाए पश्चात् उसके दुर्गुण सद्गुण हो जायँगे।

(६) अपने दाम्पत्य प्रेम का खयाल करो। जिस सुशील और सुशिक्षित कन्या के साथ आपने प्रतिज्ञापूर्वक सम्बन्ध किया है जिसका हाथ अपने हाथ में लेकर धर्म्म के सम्मुख आपने कसम खाई है उसके साथ विश्वासघात कर पराई स्त्रि को धर्म्म भ्रष्ट करने का आपको क्या अधिकार है? आपको क्या अधिकार है कि अपनी स्त्री के सतीत्व का तो आप इतना ख़याल रक्खें और अपने चरित्र का आप कुछ भान न रक्खें। याद रखिए इस प्रकार के कृत्य से आप ईश्वर के, समाज के, और एक निर्बोध बालिका के, सम्मुख भयङ्कर अपराधी प्रमाणित होंगे।

उपरोक्त बातों का शुद्ध हृदय से बार २ चिंतवन करने से बहुत सम्भव है कि, आप इस भयङ्कर विकार पर शासन कर सकें।

कितने ही लोगों का यह विश्वास है कि गृहस्थाश्रम में ब्रह्म-चर्य्य का पालन करना असम्भव और अयोग्य है। मानो गृहस्थाश्रम केवल विषय भोग के ही लिए बना है। जिस देश में। ग्रहस्थ धर्म के प्रवर्तक तमाम इन्द्रियों का निग्रह करनेवाले

ऋषिमुनि हुए हैं उसी देश में विषय वासना का ऐसा अन्धा धुन्ध दृश्य देख कर किसे खेद न होगा।

गृहस्थ जीवन तभी सच्चा आनन्दमय हो सकता है जब हम काम क्रोध और विषय वासना को अपने वश में कर लें। पशु वृत्ति का पोषण यह कोई ग्रहस्थ धर्म्म नहीं है। इसका विचार हमें सतीसावित्री के पिता के व्यवहार से स्पष्ट हो जायगा।

"प्रजोत्पत्ति के लिए उसने तीव्र नियमों का तथा ब्रह्मचर्य्य का पालन किया। और खाने पीने से नियमित हो इन्द्रिय निग्रह आरम्भ किया।"

इसी का नाम है वास्तविक ग्रहस्थाश्रम। प्रजोत्पत्ति करने-वाले के मस्तक पर उसका कितना भारी उत्तरदायित्व है उस पर विचार कीजिए। उसके प्रति उदासीन होने से कैसा भय-ङ्कर परिणाम होता है उसका अनुमान करो। जो मनुष्य अपनी वृत्तियों को नहीं रोक सकता, जो इन्द्रियों को वश करने में असमर्थ है, जो हमेशा विषय वासना में लिप्त रहता है, भले बुरे की जिसे पहचान नहीं उसमें और पशु में क्या अन्तर?

यदि आप देश के अन्दर बढ़ते हुए व्यभिचार और वेश्याओं की संख्या को रोकना चाहते हैं, यदि आप खुले बाजार में नष्ट होती हुई आर्यमहिलाओं की लज्जा को बचाना चाहते हैं तो आपका कर्त्तव्य है कि आप इस पुण्य भूमि पर खुद संयम करें, और दूसरों को भी ऐसा करने का उपदेश दें।

क्रोध

क्रोध मनुष्य के जीवन का प्रधान शत्रु है। महाभारत में द्रौपदी को युधिष्ठिर सम्बोधित करके कहते हैं कि "इस जगत में क्रोध विनाश का मूल है। क्रोध के वश में होकर मनुष्य भले और सम्माननीय लोगों का तिरस्कार करने लग जाता है। समस्त मानुषिक आचरणों का भान वह भूल जाता है। इस संसार में कौन सा ऐसा दुष्ट कार्य्य है जिसे क्रोधान्ध मनुष्य नहीं कर सकता। जीवित रहने योग्य निर्दोष मनुष्यों का वह विनाश कर डालता है और मरण समान अकर्मण्य मनुष्यों का आदर। क्रोध के वश मनुष्य हिंसा भी करता है। क्रोधान्ध मनुष्य कार्य्य का वास्तविक रूप नहीं पहचान सकता। और अपने कर्तव्य और मर्यादा का ज्ञान भूल जाता है।"

(वनपर्व) २९—३७६

बंगाल के सुप्रसिद्ध लेखक अश्विनीकुमार दत्त लिखते हैं कि "क्रोध मानव जाति का कट्टर शत्रु है। क्योंकि वह मनुष्य के गुणों को नष्ट कर डालता है। जिन जिन अमानुषी अन्याचारों के कारण यह दुनिया नरक बन गई है उनका मूल कारण क्रोध है। क्रोध के कारण मनुष्य का सुन्दर से सुन्दर मुखमण्डल भयानक हो जाता है। आँखें गर्म लोहे की तरह धधकने लगती हैं। सार यह कि मुखमण्डल अपनी स्वाभाविक

भव्यता को छोड़ कर अमानुषी रूप धारण कर लेता है। क्रोध के कारण मनुष्य का भयङ्कर नैतिक पतन हो जाता है।

मज़बूत दिल वाले मनुष्य कभी क्रोध के वशीभूत नहीं होते। क्योंकि क्रोध मानसिक निर्वलता का चिन्ह है। दूर दर्शी मनुष्यों को जिन्हें तेजस्वी और आत्मदर्शी कहते हैं कभी क्रोध नहीं होता। नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य को हमेशा इस भयङ्कर वृत्ति पर अधिकार रखना चाहिए। अब हम क्रोध पर संयम करनेवाले कुछ उपायों का वर्णन करते हैं।

(१) बाइबिल में एक स्थान पर कहा है कि "अपनी क्रोधावस्था में कभी सूर्य्य को अस्त मत होने दो।" वास्तव में यह वाक्य क्रोध पर संयम करने की एक अमोघ औषधि है। जो जिसस् क्राइष्टने एक स्थान पर कहा है कि जिस समय तू वेदी पर प्रार्थना करने के लिए आवे, उस समय यदि तुझे किसी ऐसे मनुष्य का स्मरण हो जाय जिससे तेरा अनवन है तो तू एक दम प्रार्थना को रोक दे और पहले उसके पास जाकर अपने मन को निर्मल कर डाल।

इस प्रकार करने से आपका क्रोध कभी चिरस्थायी नहीं रह सकता।

(२) किसी व्यक्ति पर यदि तुम्हें भयङ्कर क्रोध आवे और उसे तावड़ तोड़ दण्ड देने की इच्छा हो तो ठहर जाओ। यहाँतक ठहर जाओ जहाँतक तुम्हारा क्रोध पूर्ण रूपेण

शान्त न हो जाय। शान्त होने पर स्थिर चित्त होकर विचार करो। ऐसा करने से कई व्यक्ति अपनी भूलों पर पछताए हैं।

(३) क्रोध शमन हुए पश्चात् अपनी भूल स्वीकार कर जिस पर क्रोध किया हो उससे क्षमा प्रार्थना करो, इस उपाय से भी इस वृत्ति पर शासन किया जा सकता है। क्योंकि ऐसा करने से आत्मशिक्षण की आदत पड़ जाती है।

(४) क्रोधी मनुष्य को चाहिए कि जिस समय उस पर क्रोध का पारा चढ़े उस समय तत्काल ही वह अपना चेहरा दर्पण में देखे। ऐसा करने से अपनी भयङ्कर आकृति को देख कर वह स्वयं लज्जित हो जायगा।

इनके अतिरिक्त और भी कई ऐसे उपाय हैं जो क्रोध को शान्त करने में सहायता देते हैं। जिस समय क्रोध का उत्ताप शरीर में चढ़ रहा हो उस समय बुद्धिमान मनुष्य को इन्हीं में से किसी उपाय का अवलम्बन कर शान्त होना चाहिए।

उपरोक्त कथन से हमारा यह मतलब नहीं है कि गृहस्थ मनुष्य को इस वृत्ति को बिलकुल ही नष्ट कर देना चाहिए। नहीं व्यवहार काण्ड में इस वृत्ति की आवश्यकता होती है, बिना इसके व्यवहार चल नहीं सकता। हमारा मतलब इतना ही है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने हृदय से इसकी भीषणता को निकाल देना चाहिए। इस प्रवृत्ति में जो अनिष्ट कारक

तत्व मिला हुआ है उसे अलग कर देना चाहिए। इसके लिए हमारे शास्त्रों में एक बड़ा ही अच्छा उदाहरण दिया है।

एक समय नारद ऋषि अपनी वीणा बजाते हुए वैकुंठ में जा रहे थे, मार्ग में उन्हें एक सर्प मिला। उसने उनसे पूछा कि, महाराज! मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या प्रयत्न करना चाहिए। नारद ने उत्तर दिया कि, किसी जानवर को सताया मत कर, सर्प ने उसी दिन से उनकी शिक्षा ग्रहण की। किसी भी जीव को उसने नहीं सताया। पास रहने वाले कितने ही जंगली लड़कों को यह बात विदित हुई, तो वे उसे बिलकुल निर्भय होकर सताने लगे। मेंडक उसके पास आकर उसकी हँसी करने लगे, पर उसने सब कष्ट शान्तिपूर्वक सहे। कुछ समय पश्चात् उसी रास्ते से फिर नारद ऋषि निकले। तो उस सर्प ने दुःखी होकर कहा, महाराज! देखिए मेरी क्या दशा हो रही है मैं तो बिलकुल मृत प्राय हो रहा हूँ। क्षुद्र मेंडक मुझे पीड़ा पहुँचाते हैं। इस प्रकार कैसे निर्वाह हो सकता है। यह सुनकर नारद ऋषि ने कहा—"अरे मूर्ख! मैंने तुझे सताने के लिए मना किया था या फुफकार मारने के लिए। दोष सताने में है न कि फुफ़कार मारने में।" इसके पश्चात जब लड़के और मेंडक उसके पास आये तो वह ज़ोर से फुफ़कार मार कर उन पर दौड़ा, जिससे वे सब हड़ बड़ा कर भाग गये, और फिर कभी उसके पास आने तक का नाम नहीं लिया। इसी प्रकार

यद्यपि इस संसार में काटने की आवश्यकता नहीं पर तो भी फुफकार मारने की ज़रूर आवश्यकता है।

अहङ्कार

मनुष्य की कुप्रवृत्तियों में अहङ्कार सबसे अधिक भयङ्कर है। यह एक ऐसी कुप्रवृत्ति है जो मनुष्य जीवन की उत्कृष्ट अवस्था में भी उसके साथ चला करती है। निकृष्ट श्रेणी के मनुष्य से लेकर उत्कृष्ट श्रेणी के तपस्वी तक में न्यूनाधिक रूप से यह प्रवृत्ति पाई जाती है। और दूसरी कुप्रवृत्तियाँ जैसे काम, क्रोध आदि तपस्या की एक साधारण अवस्था में नष्ट हो जाती हैं। पर अहङ्कार एक ऐसी प्रवृत्ति है जो उत्कृष्ट तपस्या तक भी मनुष्य के साथ चली जाती है, मनुष्य हृदय की इस भयङ्कर प्रवृत्ति का वर्णन फ्रान्स के प्रसिद्ध लेखक "अनाटोल फ्रान्स" ने अपने "थायस"* नामक उपन्यास में बहुत ही उत्तम ढङ्ग से किया है।

ऊँचे से ऊँचे दार्शनिकों में, प्रसिद्ध विज्ञान शास्त्रियों में और प्रथम श्रेणी के कवियों में भी इस प्रवृत्ति का कुछ न कुछ आभास अवश्य पाया जाता है। मनुष्य की यह स्वाभाविक

नोटः—"थायस" उपन्यास का हिन्दी अनुवाद भी "अहङ्कार" के नाम से निकल चुका है—लेखक

प्रवृत्ति है कि जो कुछ भी वह अच्छा या जगत् हित का कार्य्य करता है और उसमें सफलता हो जाती है तो उसके लिए उसके हृदय में अवश्य कुछ न कुछ अहंभाव का उदय हो जाता है। कुछ असाधारण प्रतिभाशाली महापुरुषों को छोड़कर जगत के प्रायः सभी प्राणियों में अहंभाव की यह प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। काम और क्रोध पर विजय प्राप्त करनेवाले उदाहरण जगत में मिल सकते हैं—और काफी तादाद में मिल सकते हैं, पर अहंभाव पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुषों के बहुत ही कम नाम संसार के इतिहास में मिलेंगे।

अहंकार का उत्पन्न होना यद्यपि मनुष्य हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, तथापि यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो अहङ्कार करने योग्य कोई बात उसके जीवन में नहीं पाई जाती है। संसार के सब बड़े बड़े दर्शन शास्त्रियों, विज्ञान शास्त्रियों और अन्य विद्वानों को सम्बोधित करते हुए एक लेखक कहते हैं:—

"ऐ पण्डित! तू अपने ज्ञान का क्यों अभिमान करता है? क्या तू बतला सकता है कि तू कौन है? कहाँ से आया है? कहाँ जायगा? तू बतला सकता है कि आत्मा क्या वस्तु है? इतना भी नहीं, क्या तू यह भी बतला सकता है कि तेरा एक बिन्दु किन किन तत्त्वों से बना हुआ है?"

"ऐ विज्ञान की डींग मारने वाले विज्ञान शास्त्री! बतला तो सही यह रेती का कण कहाँ से आया है और किस वस्तु से

रचना हुआ है ? लोह चुम्बक लोहे का आकर्षण कर लेता है इसका क्या कारण है ?"

"ऐ धर्म गुरु ! तू अपनी ज्ञान और शक्ति की इतनी डींग मारता है । पर ज़रा अतःकरण में देख कि तू कितना पोला है ? तेरा उपदेश और ज्ञान कैसा दाम्भिक और हास्य जनक है ।"

"ओ वरिष्ट न्यायाधीश ! तुझे भाग्यवशात् प्राप्त हुई इस पदवी का वड़ा अभिमान है पर ज़रा देख कि जिन्हें तू अपने से छोटा समझ कर तिरस्कार करता है वे कितने ही विषयों में तुझसे आगे वढ़े हुए हैं । तू प्रतिदिन इतने लोगों की अर्ज़ियों का इन्साफ करता है पर जरा एकान्त में जा, ईश्वर का नाम लेकर अपनी वास्तविकता का निरीक्षण कर कि तेरे में कितना ज्ञान कितनी विचार शक्ति, और कितना प्रामाणिकपन है । जिस ज्ञान, वुद्धिमता और न्याय के साथ तू दूसरों के झगड़ों का फैसला करता है उसी ज्ञान और वुद्धिमता के साथ तू अपने लाभ में गति पहुँचा सकता है और जिसज्ञान, वुद्धिमता और प्रामाणिकपन को तू अपना समझता है क्या वे वास्तविक रूप में तेरे ही हैं ?

वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य का वल अति क्षुद्र और क्षण-भंगुर है । जो कुछ हम सोचते हैं वह हमेशा सफल नहीं होता । जिन शक्तियों का मनुष्य अभिमान रखता है वे भी

क्षणस्थायी हैं। बहुत सी मानवी आशाएँ कोई न कोई आकस्मिक घटना घट जाने से एक दम धूल में मिल जाती हैं।

नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अभिमान कदापि न होना चाहिए कि, मैं अपना जीवन उन्नत बना रहा हूँ क्योंकि इसमें अहंकार की कोई बात ही नहीं है वह उससे अधिक कुछ नहीं कर रहा है जो उसे करना चाहिए।

लण्डन की पार्लियामेण्ट के एक मेम्बर थे। एक दिन वे कार्य्यवशात् कहीं बाहर जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने देखा कि, एक गरीब आदमी कीचड़ में फँसा हुआ है, वह निकलने के लिए छटपटा रहा है पर निकल नहीं सकता। पचासों तमाशबीन उसके आस पास खड़े हुए हैं मगर कोई उसे निकालने का साहस नहीं कर रहा है। इस दृश्य को देख कर वे झट उस व्यक्ति की ओर बढ़े और बड़ी कठिनाई से पूर्ण शक्ति लगा कर उसे निकाल बाहर किया। वह व्यक्ति सैकड़ों आशीर्वाद देता हुआ वहाँ से चला गया। इस ऊहापोह में इन महाशय के कपड़े भी खराब हो गये। घर जाकर उन्होंने कपड़े बदले और तब वे पार्लियामेण्ट में गये। इधर संवाददाताओं के द्वारा दैनिकपत्रों में यह खबर पहुँची और बड़े बड़े अक्षरों में वह उसी दिन प्रकाशित हुई। इस समाचार को उनके मित्रों ने भी पढ़ा वे उसी समय बधाई देने के लिए वहाँ पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने कहा महाशय!

आपने इस घटना का हमारे आगे जिक्र तक नहीं किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—"मित्र यह कोई ऐसी घटना न थी जिसका मैं आपके सम्मुख जिक्र करता। मैंने परोपकार की भावना से प्रेरित होकर यह कार्य्य नहीं किया वल्कि उस गरीब की तकलीफ़ से मेरे हृदय में जो दुःख हुआ उसी की शान्ति के लिए मैंने यह कार्य्य किया। इसमें परमार्थ की कोई बात नहीं, यह तो आत्मिक स्वार्थ था।'

उपरोक्त उदाहरण प्रत्येक नैतिक-जीवन व्यतीत करनेवाले के लिए आदर्शमय हो सकता है। हम नैतिक-जीवन व्यतीत इसलिए नहीं करते हैं कि, इससे संसार का उपकार हो, हम केवल इसीलिए अपने जीवन को नैतिक वनाना चाहते हैं कि' यही जीवन का वास्तविक रूप है। इसी से आत्मा को शान्ति मिल सकती है। इससे सामाजिक स्वार्थ की अपेक्षा आत्मिक स्वार्थ ही अधिक सिद्ध होता है। सामाजिक स्वार्थ तो इसका परिणाम है। इस प्रकार की भावना रखने से मनुष्य की अहं भावना वहुत कुछ नष्ट हो जाती है।

जब तक मनुष्य के हृदय में अहंकार की भावनाओं का समावेश रहता है वहाँ तक वह कभी उन्नत नहीं हो सकता।

एक मुसलमान फ़क़ीर कहता है कि, "जब ईश्वर मेरे हृदय में आते हैं तव मेरा अहङ्कार निकल जाता है और जब अहङ्कार का प्रवेश होता है तव ईश्वर वाहर निकल जाता है। इस नियम को मैं वत्तीस वर्ष से वरावर देख रहा हूँ। ज्यों ज्यों मैं ईश्वर

को ज़ोर ज़ोर से बुलाता हूँ त्यों त्यों वे और भी ज़ोर से उत्तर देते हैं कि हमारे दोनों के लिए स्थान नहीं हम दोनों में से एक को बाहर निकालना ही पड़ेगा। या तो तू नहीं या मैं नहीं।"

एक आधुनिक कवि उस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

मैं समझता था कहीं भी कुछ पता तेरा नहीं।
आज "शङ्कर" तू मिला तो अब पता मेरा नहीं॥

एक और लेखक लिखता है कि—"ऐ मेरे यार! गर तेरी याद में मुझे मेरी याद रही तो तेरी याद में कसर है।" मतलब यह कि जहाँ तक अहंभाव का ख़याल रहता है वहाँ तक वह सच्ची उन्नति नहीं कर सकता।

ईर्षा

ईर्षा भी मनुष्य का एक स्वाभाविक दुर्गुण है इसके कारण मनुष्य की कई सत्प्रवृत्तियें नष्ट हो जाती हैं। ईर्षा की प्रवृत्ति निम्नाङ्कित उपायों से नष्ट की जा सकती है।

(१) बंगाल के सुप्रसिद्ध लेखक श्री अश्विनीकुमारदत्त लिखते हैं कि ईर्षा का सर्वोत्तम उपाय प्रेम है। क्योंकि जिस मनुष्य को हम सच्चे हृदय से चाहते हैं उसके प्रति ईर्षा होना असम्भव है। इसलिए जिस मनुष्य के प्रति हमारी ईर्षा

हो, उसके गुणों का मनन करना चाहिए, जिससे उस पर हमारा स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न हो जाय। ज्यों ज्यों प्रेम का क्षेत्र विस्तीर्ण होता जायगा त्यों २ ईर्षा कम होगी।

(२) पवित्र और शुद्ध चरित्र होने के लिए जो अपने अन्तः करण से यत्न करता है उसको कभी दूसरे के प्रति ईर्षा नहीं हो सकती। क्योंकि जो कुछ अच्छा होता है उसकी स्पर्धा करने से प्रकृति के कार्यों का समर्थन होता है। जिस मनुष्य को सच्चे दिल से उन्नति करने की इच्छा हो उसे अपने चरित्र में जहाँ तहाँ से सद्गुण ढूँढ़ कर बढ़ाने चाहिए, इससे उसकी दृष्टि को दूसरे के दोष अवलोकन करने का समय ही नहीं मिल सकता।

ईर्षा के परिणाम अत्यन्त भयङ्कर होते हैं। ईर्षालु मनुष्य के मन की स्थिति अत्यन्त दयाजनक होती है। जिस वस्तु से मनुष्य को आनन्द मिलता है उसी को देखने और जानने से उसे बड़ा ही उद्वेग होता है। ऐसा कौन भाग्यहीन मनुष्य होगा जिसे किसी मनुष्य की सुन्दरता, सुख, शौर्य आदि देखकर आनन्द न होता हो पर ईर्षालु मनुष्य को ये सब वस्तुएं दुःख की देने वाली ही होती हैं। ईर्षा के भयङ्कर चश्मे से जगत की सुन्दर वस्तुएँ भी कुत्सित हो जाती हैं। मनुष्य के अंतःकरण का सौन्दर्य भी—जिसे देख कर आत्मा पुलकित हो जाती है—ईर्षालु मनुष्य के दुःख का कारण हो जाती हैं। जिस महापुरुष का चिंतवन करने में ही हजारों आत्माएँ

अपना अहोभाग्य समझती हैं उसी के गुणों का श्रवण करने से ईर्षालु का हृदय छिद जाता है।

लार्ड बेकन ने एक स्थान पर कहा है कि जिस मनुष्य में अपने कुछ भी गुण नहीं होते वही मनुष्य दूसरों के गुणों को देख कर ईर्षा करता है। क्योंकि मनुष्य के मन का स्वभाव ही यह है कि वह अपने गुणों पर और दूसरों के दोषों पर दृष्टि रखता है। यह स्वाभाविक है कि जब हम में गुण नहीं होंगे तो हमारी निगाह दूसरों के दोषों पर ही पड़ेगी। दूसरों के गुणों को सम्पादन करने की जिस मनुष्य में शक्ति नहीं, वही मनुष्य दूसरों के गुणों को छिपा कर उसकी समानता करना चाहता है।

जिस मनुष्य का अमूल्य समय दूसरों के दोषों को ढूँढ़ने ही में व्यतीत होता है, जो मनुष्य हर किसी के ऊँचे चरित्र में भी अपूर्णता को ही ढूँढ़ा करता है, उस मनुष्य के दुःखों का विचार करते ही कलेजा काँप उठता है। क्योंकि उस मनुष्य को सहृदय से सहृदय मित्रों में भी दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं। जितना असर शरीर पर विष का होता है उतना ही असर मन पर ईर्षा का होता है। ईर्षालु मन सदा एक अप्रत्यक्ष अग्नि में जला करता है। ईर्षालु मनुष्य का शरीर भी तन्दुरुस्त नहीं रहता। उसका मस्तिष्क खोखला हो जाता है और मन निर्बल। उसका सारा आनन्द नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

इस दुर्गुण से सत्पथगामी मनुष्य को हमेशा दूर रहना

चाहिए। इसका सबसे बढ़ कर उपाय यही है कि मनुष्य अपना सारा समय सद्गुणों के चिन्तन में ही व्यतीत करे। दूसरों के दुर्गुणों का ध्यान करने के लिए वह अपने कालक्रम में समय ही न रखे।

(१०)

आत्म-निरीक्षण

मनुष्य यदि सदाचार में अपना जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे चाहिए कि वह प्रति दिन अपने नित्य कृत्यों की एक सूची बनावे। उस सूची के अन्दर अपने दैनिक कृत्यों का संक्षिप्त विवरण लिख देना चाहिए। जिससे उसें हमेशा यह मालूम होता रहे कि मुझे क्या करना चाहिए और मैं क्या कर रहा हूँ। इस पद्धति को संक्षिप्त में आत्म-निरीक्षण कह सकते हैं। आत्म-निरीक्षण से मनुष्य को अपने चरित्र-विकास में बहुत सहायता मिलती है। यदि कोई बुरा कृत्य उससे सम्पादित हो जाय और वह उस सूची में उसके दृष्टिगत होता रहे तो यह निश्चय है कि उस कृत्य के लिए उसे हमेशा पश्चाताप होता रहेगा। और यह पश्चाताप की अग्नि ऐसी है कि, जिसमें तप कर मनुष्य बिलकुल शुद्ध हो जाता है। आत्म-निरीक्षण की इस शैली से कई दुर्गुणियों के, दुर्गुण नष्ट होते देखे गये हैं। यदि मनुष्य साल भर के अन्त में अपने गत कृत्यों की सूची देखे तो निश्चय है कि उसकी आत्मा काँप उठेगी।

बेन्जमिन फ्रेङ्कलिन नामक विद्वान हमेशा इस प्रकार की सूची रखता था। वह अपने दैनिक कार्य्यों को हमेशा उस सूची में दर्ज कर लेता था। उसकी सूची की प्रति नकल हम इस स्थान पर दे देना उचित समझते हैं :—

बेन्जमिन फ्रैंकलिन की कार्य-प्रणाली।

समय	घंटे	कार्य
प्रातःकाल प्रश्न—आज मैं क्या उत्तम कार्य्य करूँ?	५ ६ ७	बिस्तर से उठना नित्य के कार्य्य समाप्त कर ईशोपासना करना कार्य्य नियत करना स्वाध्याय प्रातः का भोजन
	८ ९ १० ११	कार्य्य
मध्याह्न	१२ १	स्वाध्याय। अपव्यय का हिसाब जाँचना दुपहर का भोजन
तीसरा प्रहर	२ ३ ४ ५	कार्य्य
सायंकाल	६ ७ ८ ९	सब वस्तुएँ अपने २ स्थान पर रखना सायंकाल का भोजन। गाना बजाना आमोद प्रमोद वार्तालाप मन के कर्तव्यों पर अपने आपकी जाँच
रात्रि	१०-४	निद्रा

फ्रैंकलिन का आत्म-निरीक्षण ।

नाम गुण	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
परिमित अहार	×			×			
वाक्संयम							
सुव्यवस्था							
कर्त्तव्यपालन की दृढ़ प्रतिज्ञा							
मितव्ययिता				×			×
परिश्रम और समय का सद्व्यय							
कपट का न होना	×				×		
न्यायपरायणता							×
स्थिरता और तितिक्षा						×	×
इन्द्रियदमन			×		×		
विनय							

फ्रेङ्कलिन को जिस दिन अपने किसी भी कर्तव्य में खामी मालूम होती, तुरन्त उस कर्तव्य के खाने में वह उसी समय

×) का चिन्ह बना देता था। मास के अन्त में वह इस तालिका का हिसाब लगाता और जिस गुण में जो त्रुटि दिखलाई देती उसे पूरी करने की कोशिश करता था।

प्रत्येक सदाचारी व्यक्ति को फ्रेंकलिन के इस कृत्य से सहायता लेना चाहिए। इस प्रकार का आत्म-निरीक्षण करते रहने से मनुष्य अपनी त्रुटियों को सहज ही में दूर कर सकता है।

काम, क्रोध, अहङ्कार आदि के अतिरिक्त मनुष्य स्वभाव में और भी कई ऐसी कुप्रवृत्तियाँ हैं जो उसकी सद्विवेकबुद्धि को नष्ट करने में सहायता देती रहती हैं। जैसे उच्छृङ्खलता, वाचालता, लोकभय, सांसारिक चिन्ता, धार्मिक आडम्बर, आदि। इन सब विषयों पर अलग २ विवेचन करना इस लघुकाय ग्रन्थ में असम्भव है। प्रायः सब लोग मनुष्य की इन दुर्बलताओं को जानते हैं। इस स्थान पर अब हम केवल एक विषय पर थोड़ा सा विवेचन करेंगे। क्योंकि, इसके कारण हमारे देश और धर्म्म का बहुत नाश हो गया है। इसके कारण हम लोग वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़े हैं। यह विषय धार्मिक आडम्बर है।

---

(११)

धार्म्मिक-आडम्बर

यह रोग भारत के हिन्दू समाज को बहुत ही बुरी तरह से लगा है। हमारा आचारशास्त्र इतना अधिक जीर्ण और

भ्रष्ट हो गया है कि वह हम लोगों के किसी भी उपयोग में नहीं आ सकता। फिर भी हम लोग उसके पीछे इस प्रकार हाथ धोकर पड़े हैं जैसे सहन-शक्ति-विहीन व्यक्ति अपने उस अङ्ग के पीछे पड़ा रहता है जो बिलकुल सड़ गया हो। जिसके दुरुस्त होने की रत्तीभर भी आशा नहीं है, यही नहीं बल्कि उस अङ्ग के प्रताप से सारे शरीर में विष बढ़ रहा है। उस अङ्ग को न कटवाने से सारे शरीर की हानि हो रही है, पर फिर भी मोहवश इसलिए कि, उसके कटने से तकलीफ़ होगी, वह उस अङ्ग को नहीं कटवाता। परिणाम उसका यह होता है कि इस अङ्ग का विष सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और अन्त में वह मनुष्य बहुत ही शीघ्र मृत्यु का मेहमान हो जाता है।

यही दशा हमारे आधुनिक आचार-शास्त्र की हो रही है। हम जानते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि भी इस बात को कह गये हैं कि, देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवहारिक धर्म में परिवर्तन होता रहता है। जो जाति परिस्थिति के अनुसार अपने आचार में परिवर्तन नहीं करती वह कभी ज़िन्दा नहीं रह सकती। समय २ की धार्मिक क्रान्तियाँ इस बात की साक्षीरूप हैं। इतना जानते हुए भी मोहवश हम परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन करने को तैय्यार नहीं। और यही कारण है कि आज हिन्दू जाति दिन प्रति दिन हर एक बाजू से सड़ती जा रही है।

हम लोग हमारे पूर्वजों का अनुकरण करते हैं। वे लोग

प्रति दिन स्नान-सन्ध्या करते थे, हम भी करते हैं। वे लोग तिलक छापा लगाते थे हम भी लगाते हैं। वे लोग यज्ञोपवीत लेते थे, हम भी लेते हैं। वे लोग छुवाछूत का पूरा ध्यान रखते थे, हम भी रखते हैं। वे लोग मन्दिर में मूर्तियों का शृंगार और उनकी पूजा करते थे, हम भी करते हैं। वे लोग विवाह शादी करते थे, हम भी करते हैं। जैसा वे लोग करते थे वैसा हम भी करते हैं।

वह तो हम सब करते हैं। हम अपने शरीर को उतना ही शुद्ध रखते हैं जितना वे रखते थे। पर वे लोग शरीर के साथ आत्मा का जो साम्य कर देते थे, उसी को हम भूल गये हैं। आचारशास्त्र की मृतकदेह को हम कन्धे पर उठाए २ अपने पूर्वजों के नाम को बदनाम करते हुए संसार में नोटिसबाजी करते अवश्य हैं पर उसके साथ हम यह नहीं जानते कि, वे जिस आचारशास्त्र को पालते थे वह शास्त्र और उनका आचार सजीव था, और हम जिस आचार के पीछे पड़े हैं वह मुर्दा है, इसका जीवन नष्ट हुए बहुत दिन हो चुके हैं। जिस दिन से इसका जीवन नष्ट हुआ, उसी दिन से भारत के अधःपतन के इतिहास का आरम्भ है। अब तो इस मुर्दा ठठरी से बदबू निकलने लग गई है। अब तो इसके दाहसंस्कार बिना उद्धार नहीं है।

हम हिन्दू लोग प्रति दिन बड़े आडम्बर के साथ शम्भो का नाम लेते २ शरीर को स्वच्छ करने के निमित्त पानी में

गोता मार कर निकल आते हैं मगर यह नहीं जानते कि इस शरीर के साथ कभी आत्मा का स्नान भी करते हैं या नहीं। उस पर जो चार २ अङ्गुल मैल जम रहा है उसे भी धोने का प्रयत्न करते हैं या नहीं। हम लोग सन्ध्या करते हैं, तिलक छापा लगाते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि इनके लगाने का उद्देश्य क्या है। बिना कारण और तत्व के समझे हुए हम केवल इन बातों को इसीलिए करते हैं कि, हमारे पूर्वज भी इनको करते थे। हम लोग बड़े ही आडम्बर के साथ यज्ञोपवीत के तीन तागे गले में डालते हैं पर यह नहीं जानते कि यह है किस बला का नाम। लिखते हुए भी हँसी आती है कि आजकल जिस समय किसी बच्चे के गले में यज्ञोपवीत पहनाया जाता है उस समय वह लँगोट लगाए पैरों में खड़ाऊ पहने काशी जाकर विद्याध्ययन करने के लिए भागता है, लोग उसके पीछे दौड़ कर उसे पकड़ लाते हैं। और दूसरे ही दिन या दूसरे ही मास उसके गले में एक अशिक्षित लड़की को बाँध देते हैं। बस, इतने ही समय में हमारे यज्ञोपवीत धारी नवयुवकों का ब्रह्मचर्य्य व्रत पूर्ण हो जाता है। नकल उतारने में हम हमारे पूर्वजों से किसी बात में कम थोड़े ही हैं। एक और बात आजकल के दिगम्बर जैनियों में बड़े मज़े की है। कहा जाता है कि उनके बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ विवाह के लिए जिस समय तोरण मारने गये उस समय वहाँ पर हिंसाकाण्ड होते हुए देख कर वापस फिर गये और दीक्षा

लेकर जंगल में चले गये। फिर उन्होंने विवाह नहीं किया। आजकल के दिगम्बर जैनियों ने इस बात को बावन तोला पाव रत्ती अपने वैवाहिक जीवन में उतार लिया है। वे भी जब तोरण मारने को जाते हैं तो वहाँ से वापस लौट कर आ जाते हैं। दूसरे दिन फिर उसी तोरणद्वार पर आकर उपस्थित हो जाते हैं इस स्थान पर नेमिनाथ ने ही गलती की था ये आधुनिक धर्मात्मा लोग ही गलती करते हैं सो भगवान ही जाने।

जिस देश में धार्मिक आडम्बर इतने जोरों सें प्रचलित हो गया हो, जो देश नकलीपन के आवेश में अपनी असलियत को भूल गया हो, उस देश का यदि अधःपतन हो जाय, वह देश यदि सदियों तक गुलाम बना रहे तो क्या आश्चर्य ?

हम लोग विधवा-विवाह का नाम सुन कर ही मुँह से राम राम चिल्लाने लगते हैं, लेकिन जिस समय विवाहमण्डप के अन्दर साठ २ वर्ष के बुड्ढों के गलों में दस २ वर्ष की कन्याएँ बाँध दी जाती हैं उस समय हमारे कान पर जूँ भी नहीं रेंगती। हम लोग अछूत-उद्धार को धर्म्म विरुद्ध समझते हैं लेकिन खुद अछूतों सरीखे कृत्य करते हुए नहीं शरमाते। हम लोग चींटी की हिंसा को हिंसा समझते हैं लेकिन बन्धुविद्रोह के कारण अपने भाई का गला खुशी से काट देते हैं। और फिर भी धर्म्म २ का नाम चिल्लाते हुए दुनिया के परदे पर कट्टर हिन्दू और धार्मिक बनने का दावा करते हैं।

हिन्दुस्थान के पतन का सबसे बड़ा कारण एक दृष्टि से

देखा जाय तो यही है। इसी धार्मिक आडम्बर ने सहानुभूति की भावनाओं को नष्ट कर दिया। इसी आडम्बर के कारण देश के अन्दर हज़ारों जातियं पैदा हो गई। इसी धार्मिक आडम्बर ने उदार हिन्दूधर्म्म को अनुदार बना दिया।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को इस झूठे आडम्बर से बच कर अपने गिरते हुए देश की रक्षा करने में मदद देना चाहिए। इससे हमारा यह मतलब नहीं कि बाहरी आचरण-शुद्धता को तिलांजलि दे देना चाहिए, नहीं, हमारे कहने का मतलब यह है कि आचरण-शुद्धता के साथ आत्मिक शुद्धता का साम्य कर देना चाहिए। बिना आत्मा की उच्चता और चरित्र की शुद्धता के धार्मिकता की डींग मारना सिवाय विडम्बना के और कुछ नहीं है।

जो गृहस्थ उपरोक्त दुष्प्रवृत्तियों का दमन कर, शान्ति पूर्वक अपने समाज, अपने देश की सेवा करता हुआ अपने आश्रम-धर्म्म का पालन करता हुआ संसार की कर्मभूमि में बेदाग सफलता पूर्वक निकल जाता है वही आगे जाकर अपनी आत्मा की उन्नति करने में सफ़ल हो सकता है। इस प्रकार के शुद्ध गृहस्थ किसी भी काल में समाज के अन्तर्गत समष्टिगत नहीं हो सकते, पर जिस समाज में अपेक्षा कृत जितने ही अधिक ऐसे गृहस्थ पाये जाते हैं वह समाज उतना ही अधिक उन्नत और दैवी सम्पद युक्त समझा जाता है। आसुरी सम्पद युक्त समाज में ऐसे गृहस्थ बहुत ही कम—नहीं के बराबर ही पाये

जाते हैं। और यदि कुछ लोग उस समाज में ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश भी करते हैं तो समाज उनकी हँसी उड़ाता है। कच्चे दिल वाले आदमी ऐसे समाज से तङ्ग आकर नष्ट हो जाते हैं। केवल वही इने गिने व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में टिक सकते हैं जो समाज के अत्याचारों और हँसी के खिलाफ छाती फुला कर खड़े हो जाते हैं।

जिस समाज में ईमानदारी भोंदूपन समझा जाता है, सच्चरित्रता नपुंसकता में परिणित हो जाती है। कामिनी और कांचन ही जिस समाज के आराध्य देव हो जाते हैं, ऐसे दुष्ट समाज में रह कर नैतिक जीवन व्यतीत करना बड़ा ही कठिन कार्य्य है। कुछ थोड़े ही साहसी इस भयङ्कर अवस्था में गृहस्थ धर्म का पालन कर सकते हैं।

अस्तु, यहाँ तक हम गृहस्थधर्म का संक्षिप्त वर्णन कर चुके। आगे के पृष्ठों में हम मनुष्य के उस जीवन का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखेंगे जिसे साधारणतया वानप्रस्थ कहते हैं।

तीसरा-खण्ड

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम की विस्तीर्ण रंगशाला में बीस पच्चीस वर्ष—अपना सुन्दर अभिनय कर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है।

जब विषयवासना की ओर से मनुष्य विरक्त हो जाता है, जब यौवन की उच्छृंखलता उसके जीवन से निकल जाती है, जब जोश के स्थान में गम्भीरता का आविर्भाव हो जाता है और जब यौवन-सुलभ-चंचलता के स्थान पर प्रौढ़ता का आविर्भाव हो जाता है, उस अवस्था को प्रौढ़ावस्था या वान-प्रस्थाश्रम कह सकते हैं।

प्रौढ़ अवस्था में मनुष्य के क्या कर्तव्य होना चाहिए इस विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक तो हमारे पूर्वजों का और दूसरा आधुनिक विद्वानों का। हमारे पूर्वजों के मतानुसार गृहस्थाश्रम का कर्तव्य किए के पश्चात् मनुष्य को वन में चला जाना चाहिए। इस आश्रम में भगवान के चरणारविन्दों के

अतिरिक्त मनुष्य को दूसरी किसी वस्तु का ध्यान न रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य्यावस्था में जो दर्जा गुरु को और गृहस्थाश्रम में जो दर्जा देश को रहता है वही वानप्रस्थाश्रम में परमात्मा को देना चाहिए।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य को दुष्प्रवृत्तियों का एक देशीय त्याग होता है। काम, क्रोध, मोह, अहङ्कार आदि दुष्प्रवृत्तियों का भद्दा रूप यद्यपि उस आश्रम में ही निकाल दिया जाता है, तथापि किसी न किसी रूप में इनका अस्तित्व रहता ही है। चाहे काम से मनुष्य उस आश्रम में कितना ही विरक्त क्यों न हो जाय, पर गृहस्थधर्म को निबाहने के लिये प्रजोत्पत्ति के निमित्त किसी न किसी रूप में उसे उससे सम्बन्ध रखना ही पड़ता है। इसी प्रकार क्रोध की भावनाओं पर वह कितना ही सयम क्यों न कर ले फिर भी संसारधर्म्म चलाने के लिए या यों कहिए कि दुष्टों से रक्षा पाने के लिए सर्प की फुफकार की तरह किसी न किसी रूप में क्रोध भी उसे रखना ही पड़ता है। मोह तो प्रायः अधिकांश रूप में उसके हृदय में बास किया करता है। अहंकार की भी यही हालत है।

मतलब यह कि—सांसारिक नियम के अनुसार गृहस्थधर्म्म का सफलता पूर्वक पालन करने के लिए मनुष्य को निश्चय और व्यवहार इन दोनों को बराबर पलड़े पर रखना पड़ता है। यदि किसी भी ओर का पलड़ा रञ्चमात्र भी भारी या हलका हुआ तो समझना चाहिए कि वह गृहस्थधर्म से निकल रहा

है। यदि निश्चय या आदर्शोंके जोश में आकर उसने विषय वासना को बिलकुल ही तिलांजलि दे दी तौ भी वह सराहनीय नहीं हो सकता, और यदि व्यवहार का खयाल न करके वह दुर्वासनाओं में लिप्त हो गया तो भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता। यदि आदर्श का ख़याल करके वह सम्पत्ति का बिलकुल ही त्याग कर दे तौ भी बुरा और यदि व्यवहारिक दृष्टि में पड़ कर वह सम्पत्ति में लिप्त हो जाय तौ भी अपने धर्म से च्युत हो जायगा। मतलब यह कि गृहस्थाश्रम में वह एक ऐसी भयङ्कर घाटी के किनारे पर खड़ा रहता है जिसके एक ओर खाई और दूसरे ओर कुँआ है। एक पैर भी यदि उसका इधर उधर फिसल गया तो निश्चय है कि वह पतित हो जायगा।

वानप्रस्थाश्रम में यह अवस्था नहीं रहती। उसमें मनुष्य क्रमशः व्यवहार से विरक्त होता हुआ निश्चय (आदर्श) की ओर अग्रसर होता है। कर्मयोग से विकास करता करता वह ज्ञानयोग में प्रविष्ट होता है। सम्पत्ति और विषय भोगों से धीरे धीरे तरके तालुक करता हुआ वह परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। जिससे वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ अनन्त की ओर प्रवाहित होता है।

कालिदास ने रघुवंशियों के लिए कहा है—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

रघुवंशी लोग बचपन में विद्याभ्यास, जवानी में विषय

भोग, प्रौढ़ावस्था में मुनिवृत्ति और चौथेपन में योग साधन के द्वारा शरीर का त्याग करते हैं।

यह तो व्यक्तिगत हित की दृष्टि से प्रौढ़ावस्था में वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता हुई। अब सामाजिक हित की दृष्टि से इस आश्रम से क्या लाभ होता है उसका संक्षिप्त विवेचन करना हम उचित समझते हैं।

समाजशास्त्र के अन्तर्गत जाति सावयव और सजीव पदार्थ मानी गई है। जिस प्रकार वनस्पति झाड़ वगैरः स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार जाति भी स्वयं उत्पन्न होती है। वृक्षों ही के समान जाति में भी शाखा फ़ल फ़ूल होते हैं। प्रकृति किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने के निमित्त किसी जाति को उत्पन्न करती है। और जब उसका वह कार्य्य सम्पन्न हो जाता है तो फिर कानूने कुदरत के अनुसार ही वह जाति क्रमशः लोप हो जाती है। वनस्पत्तियों ही के समान जातियों में भी वृद्धिकाल और क्षयकाल होता है। वृद्धिकाल में तो जाति फलती फूलती है पर जब उसका क्षयकाल उपस्थित होता है तब उसकी शाखाएँ निःसत्व हो जाती है, सड़ जाती हैं। ऐसे समय में जिस प्रकार वृक्षों की कलम करके उनकी सड़ी हुई शाखाएँ काट कर उसकी रक्षा कर ली जाती है, उसी प्रकार जाति रूपी वृक्ष की भी रक्षा के निमित्त कलम करनी पड़ती है। यह कलम हमारे यहाँ तीन प्रकार की मानी गई है (१) युद्ध (२) बालब्रह्मचर्य्य (३) वानप्रस्थ प्रथा।

युद्ध के द्वारा जाति रूपी वृक्ष की किस प्रकार कलम हो जाती है यह बतलाने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं, इस बात को प्रायः सभी मनुष्य जानते हैं। दूसरी बालब्रह्मचर्य्य की प्रथा, यह प्रथा भी बड़ी बुद्धिमानी के साथ रक्खी गई है। ब्रह्मचर्य्याश्रम में जिस समय विद्यार्थी अध्ययन करते थे उस समय उनके गुरु लोग प्रत्येक विद्यार्थी का निरीक्षण किया करते थे। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार उसके अङ्गों की चेष्टाओं को देख कर वे जान लेते थे कि इस विद्यार्थी की सन्तानें अच्छी होंगी या नहीं। जो विद्यार्थी इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी जाती थी; एवं जिन विद्यार्थियों के लिए उन्हें यह विश्वास हो जाता था कि इनकी सन्तानें सन्तोषप्रद नहीं हो सकतीं उन्हें वे बालब्रह्मचारी रहने की आज्ञा देते थे। इससे दो फ़ायदे हो जाते थे, एक तो समाज में भद्दी और कमज़ोर सन्तानें प्रविष्ट नहीं हो सकती थीं और बालब्रह्मचारियों को इस त्याग के बदले में समाज सम्मान प्रदान करता था जिससे वे भी असन्तुष्ट नहीं रहते थे।

जातीय कलम की तीसरी विधि वानप्रस्थाश्रम थी। आधिजैविक शास्त्र के अनुसार यौवन के पीछे पैदा की हुई सन्तानें समाज के लिए अनभीष्ट होती हैं। क्या मनुष्यों में और क्या पशुओं में, सबमें यह नियम अनवरत रूप से काम करता रहता है। इसी कारण माली लोग पुराने वृक्षों के बीजों को नहीं बोते

हैं और गुवाले भी वृद्ध नर पशुओं को मादाओं के बीच में नहीं रखते। आधिजीविक शास्त्र के इसी सिद्धान्त के अनुसार हमारे समाजशास्त्रों में वृद्धावस्था आने पर वानप्रस्थाश्रम में सम्मिलित होने की व्यवस्था दी गई है। इस प्रथा से उन लोगों को तो ईश्वर भजन करने का अवसर मिल जाता है और समाज में अनभीष्ट सन्तानों की वृद्धि रुक जाती है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति को गृहस्थाश्रम समाप्त किये पश्चात् विषयवासना आदि सांसारिक प्रवृत्तियों से अलग हो जाना चाहिए। पर इस बात में बड़ा मतभेद है कि उस व्यक्ति को समाज और संसार से सम्बन्ध रखना चाहिए या नहीं। प्राचीन ऋषि लोगों ने तो यही व्यवस्था दी है कि ऐसे व्यक्ति को मुनिवृत्ति ग्रहण कर वन में चले जाना चाहिए पर आधुनिक विद्वान इस बात को नहीं मानते।

बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान वङ्किमचन्द्र चटर्जी ने "चौवे के चिट्ठे" में इस विषय पर अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा ही अच्छा प्रकाश डाला है। चिदानन्द चौवे के वहाने वे लिखते हैं—

"अगर कालिदास बुढ़ापे के गौरवपूर्ण कर्त्तव्य को समझते तो कभी बुड्ढों के लिए मुनिवृत्ति की व्यवस्था न देते। विसार्क मोल्टके और फ्रेडरिक विलियम बुढापे में अगर मुनिवृत्ति धारण कर लेते तो इस जर्मन नेशनलिटी की कल्पना कौन करता? टियर-बूढे टियर अगर मुनिवृत्ति ग्रहण कर लेते तो फ्रांन्स की स्वाधीनता और साधारण तन्त्र की स्थापना कहाँ से

होती? ग्लाडस्टन और डिजरेली बूढ़े थे, वे अगर मुनिवृत्ति ग्रहण कर लेते तो पार्लियामेण्ट का रिफ़ार्म और आयरिश चर्च का डिसेस्टाब्लिशमेण्ट कैसे होता?

"मेरी समझ में बुढ़ापा ही वास्तव में काम करने का समय है। मैं आँत और दाँत दोनों से चौथेपन में पहुँचे हुए बूढ़े की बात नहीं कहता। उसका तो दुबारा लड़कपन आ गया समझना चाहिए। अगर जो लोग जवान भी नहीं रहे हैं मगर बूढ़े भी नहीं हुए उन्हीं प्रौढ़ पुरुषों की बात कह रहा हूँ। जवानी काम करने की अवस्था है सही पर उस समय पक्का अनुभव न होने से बड़े और महत्व के काम सफलता पूर्वक सम्पादित नहीं किये जा सकते। उस समय एक तो बुद्धि कच्ची रहती है दूसरे रागद्वेष और भोगवासना की मात्रा अपेक्षा कृत अधिक होती है। एक दो अलौकिक शक्तिशाली महापुरुषों को छोड़ कर हर एक आदमी जवानी में विशेष महत्व के काम नहीं कर सकता। जवानी ढलते समय मनुष्य अनुभवी, परिपक्व बुद्धि, बहुदर्शी, लब्धप्रतिष्ठ, और भोगवासना विहीन हो जाता है। इस कारण वही उसके वास्तविक काम करने का समय होता है। मेरी सलाह है कि अपने को बूढा समझ, सब काम काज छोड़ मुनिवृत्ति ग्रहण करना ठीक नहीं।"

वङ्किमबावू की उपरोक्त दलील बहुत महत्व रखती है। संसार के इतिहास में हम जितने भी महापुरुषों का नाम सुनते हैं उन सबों ने प्रायः प्रौढ़ावस्था में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य्य किया

है। वे यदि उस समय संसार हित की भावना को छोड़ मुनि-वृत्ति ग्रहण कर लेते तो अनर्थ हो जाता। हमारी राय में प्रौढ़ावस्था आने पर मनुष्य को विषय भोगादि सांसारिक पदार्थों को तो अवश्य छोड़ देना चाहिए—व्यवहार की अपेक्षा निश्चय की ओर भी उन्हें बढ़ना चाहिए। पर संसार और समाज से बिलकुल नाता तोड़ देना उनके लिए ठीक नहीं। क्योंकि समाज को आये दिन उनकी सम्मति की आवश्यकता हुआ करती है। ऐसे मनुष्यों के अनुभव से समाज की कई विषम समस्याएँ हल हो जाती है। कई बातों का मुश्किले आसान हो जाता है। इसलिए ईश्वरशक्ति और आत्मचिंतन के साथ साथ उन्हें समाज का भी खयाल रखना चाहिए। हाँ, सन्यासवृत्ति लिये पश्चात् वे चाहें तो इस सम्बन्ध को भी छोड़ सकते हैं।

सन्यस्थाश्रम

वानप्रस्थाश्रम में निष्ठा हो जाने पर सन्यास धारण कर लिया जाता है। शेष आयु समाधिअवस्था में अथवा जीवन-मुक्त अवस्था में बिताई जाती है। शरीर से बहुत कम प्रयोजन रहता है। इस आश्रम में अहङ्कार का समूल नाश हो जाता है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्—

की उच्च भावना का हृदय में विकास हो जाता है। इस आश्रम में मैं मेरा तू तेरा कुछ नहीं रह जाता है। सारा जगत ब्रह्ममय हो जाता है।

"आज शङ्कर तू मिला तो अब पता मेरा नहीं।" वाली कहावत चरितार्थ होने लग जाती है। इस अवस्था में ध्यान ध्याता और ध्येय एवं ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। पर यह स्थिति बहुत ही कम भाग्यवानों को प्राप्त होती है। अतः इस विषय में हमारे प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों में बहुत मतभेद है। और समाज में इस विषय में अधिक जानने की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं। अतः हम इस विषय को इतने ही में समाप्त करते हैं।

ऊपर हम चारों आश्रमों के विषय में साधारण विवेचन कर आये हैं, पर यह नहीं बतलाया गया कि प्रत्येक आश्रम में कहाँ से कहाँ तक आयु निर्धारित है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य, पच्चीस से पचास तक गृहस्थ, पचास से पचहत्तर तक वानप्रस्थ और पचहत्तर से सौ तक सन्यास की अवस्था बतलाई है। पर यह नियम इस समय उपयोगी नहीं हो सकता। क्योंकि इस समय बिरला ही भाग्यवान सौ वर्ष की आयु को पाता होगा। इस अभागे देश में तो आयु की औसत केवल तेईस वर्ष की बतलाई जाती

है। इनमें से यदि बच्चों की मृत्यु संख्या निकाल दी जाय और औसतन साठ वर्ष की आयु मान ली जाय तो इस प्रकार के विभाग ठीक हो सकते हैं। प्रारंभ से २० वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य, बीस से ४० तक गृहस्थ, चालीस से पचास या साठतक वानप्रस्थ और शेष में सन्यासाश्रम।

इन विभागों के अनुसार भी देश के नवयुवक यदि निष्ठापूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करें तो उनका और देश का बहुत उपकार हो सकता है।

—:o:—

(५)

हमारा आधुनिक नैतिक पतन और उसका पूर्वेतिहास

हम इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में लिख आए हैं कि किसी भी देश की दुर्गति का कारण बाह्य कारणों के अन्तर्गत नहीं रह सकता। लगातार के युद्ध, प्रतिवर्ष की महामारी और दुर्भिक्ष भी समाज और देश का वास्तविक अनिष्ट नहीं कर सकते। समाज का वास्तविक अनिष्ट तभी हो सकता है जब उसके अन्तर्जगत में खलबली हो जाती है। जब उसके नैतिक जीवन में क्रान्ति पैदा हो जाती है। भारतवर्ष के पतन

के कारणों पर भी जब हम विचार करने बैठें तो हमारा पहला कर्तव्य होगा कि उसके बाह्य जीवन इतिहास को छोड़ कर उसके नैतिक-जीवन के इतिहास का अध्ययन करें।

हमारा यह प्यारा भारतवर्ष-हमारी यह सुन्दर मातृ-भूमि किसी समय में सारे संसार की गुरु थी। प्रत्येक गहन विषय का ज्ञान इसी के द्वारा संसार को मिलता था। क्या अध्यात्म क्या दर्शन, क्या ज्योतिष, क्या लिपितत्त्व, आदि सभी विषयों में हमारे देश ने अलौकिक उन्नति की थी। आज का नया संसार भी हमारी प्राचीनता का ऋणी है। यह कहने में कोई बाधा नहीं।

हमारे यहाँ का समाज कितना उन्नत था, हमारी समाज व्यवस्था कितनी सुन्दर थी इसका संक्षिप्त विवेचन हमने इस पुस्तक में स्थान २ पर किया है। प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी प्लेटो और एरिस्टोटल भी जिस समाज की रचना में असफल हुए उसी समाज की बिलकुल क्रम बद्ध रचना यहाँ पर हुई थी।

उस समय हमारे समाज में सुख बरसता था। शान्ति की नदियाँ बहती थीं। आनन्द के फव्वारे छूटते थे और स्वाधीनता की पूजा होती थी। कोई दुःखी न था, कोई चिन्ताशील न था, कोई स्वार्थी न था, कोई पराधीन न था। अन्न इतना पैदा होता था कि लोग खाते २ भी न खा सकते थे। दूध और दही की नदियाँ बहती थीं, घी और तेल की भी कमी न थी। मतलब

यह कि उस समय हमारा समाज संसार के समाजों में सर्वोत्कृष्ट था।

यह सुख तब तक बना रहा जब तक लोग समाज के सुख में अपना सुख, समाज के स्वार्थ में अपना स्वार्थ और समाज के कष्ट में अपना कष्ट समझते थे। जब तक जातिगत स्वार्थों में व्यक्तिगत स्वार्थ लीन थे जब तक समाज की रक्षा के निमित्त लोग हँसते हँसते अपने प्राणों को बलिदान कर देते थे। जब तक मनुष्यों की सत्प्रवृत्तियाँ जागृत थीं और कुप्रवृत्तियाँ सुप्त थीं, तबतक यह सुख बना रहा।

लेकिन यह कैसे हो सकता है कि हमेशा मनुष्य की सत्प्रवृत्तियाँ ही जागृत रहें और कुप्रवृत्तियाँ सोती रहें। यह तो प्रकृति का नियम ही नहीं है। यदि ऐसा नियम होता तब तो कुप्रवृत्तियों के अस्तित्व की ही क्या आवश्यकता थी। प्रकृति का सनातन नियम ही यह है कि कभी कुप्रवृत्तियाँ बलवान रहें और कभी सद्वृत्तियाँ।

हमारे पूर्वजों ने उत्कृष्ट आत्मज्ञान के द्वारा संसार के तमाम विषयों पर विजय प्राप्त कर ली। पर शायद मनुष्य की इस कमजोरी पर वे भी विजय प्राप्त न कर सके। यदि वे प्रकृति के इस उत्थान-पतन पर विजय प्राप्त करने की विधि अपने अंग्रेजों को बतला जाते तो शायद उनका यह कार्य्य सब कार्य्यों से अधिक महत् होता। पर ऐसा न हो सका। मनुष्य की कुप्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं की जा सकीं।

समय पाकर समाज की सद्वृत्तियाँ शिथिल होने लगीं। और उसके स्थान पर कुप्रवृत्तियों का उत्कर्ष होने लगा। व्यक्तिगत स्वार्थ की भावनाएँ क्रमागत जोर पकड़ने लगीं और जातिगत स्वार्थ के भाव शिथिल होने लगे। "आप डूवा तो जग डूवा" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ साथ मनुष्य की नीचवासनाओं का भी उदय होने लगा। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। सारे समाज में खलवली मच गई।

सबसे पहले इस स्वार्थभावना का उदय ब्राह्मणों में हुआ। समाज की सारी वागडोर उनके हाथ में थी। वे जैसा चाहते कर सकते थे। क्षत्रिय उनके हाथ की कठपुतली हो रहे थे। सबसे पहले उन्होंने शूद्रों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। शूद्र कमज़ोर थे ही। क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों पर ही उनका निर्वाह होता था। सेवाभाव ही उनका धर्म था—स्वतन्त्र विचार करने की प्रतिभा उनमें स्वाभाविक ही न वस मोक्ष का ठेका ब्राह्मणों ने ले लिया। शूद्रों के प्रति तरह तरह के अत्याचार होने लगे। इसका सबसे पहला उदाहरण शायद रामायण में देखने को मिलता है। एक ब्राह्मण के घर लड़का मर गया। उसका कारण शूद्रक की तपश्चर्य्या वतलाया गया। झट वशिष्ठ ने शूद्रक को मारने की व्यवस्था दे दी और श्रीरामचन्द्र ने उसे मार कर उनकी आज्ञा का पालन किया। महाभारत के समय में इस सामाजिक विश्रृंखलता में और भी वृद्धि

हुई। उस समय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य तीनों ही वर्ण कर्तव्यच्युत हो गये थे। बन्धुत्व की भावना बिलकुल नष्ट हो गई थी। सारे समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ के सम्मुख जातिगत स्वार्थों की उपेक्षा होने लग गई थी। तत्कालीन परिस्थिति उस भयङ्कर स्फोट की सूचना दे रही थी जो शीघ्र ही देश के अन्दर उठने वाला था।

एक लेखक ने लिखा है कि महाभारत हुआ इसलिए भारत गारत नहीं हुआ प्रत्युत भारत गारत हो चुका था इसलिए महाभारत हुआ। वास्तव में महाभारत उन भयङ्कर मनोविकारों का स्फोट था जो सदियों पहले से समाज के अन्दर एकत्रित हो रहे थे।

महाभारत ने देश की तत्कालीन परिस्थिति का नङ्गा चित्र बतला दिया, उसने उस नैतिक जीवन का खाका खींच दिया जो उस समय के समाज का हो रहा था। महाभारत के पश्चात् तो इस देश के जीवन की इति श्री हो गई। वर्णाश्रम धर्म जो किसी समय में समाज पोषक था वही तत्कालीन समाज में उसका शोषक हो गया। बल्कि यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि यदि वर्णाश्रम धर्म का बहाना न होता तो कदापि समाज की इतनी दुर्गति न होती।

वह दुर्गति क्रमशः बढ़ती ही गई। बुद्ध और महावीर के ... में तो इसने इतना भीषण रूप धारण कर लिया कि ...ज में त्राहि त्राहि मच गई। बौद्ध-जातकों से पता चलता

है कि यदि कोई चाण्डाल या शूद्र भूल से भी कभी वेदमन्त्र सुन लेता था तो उसके कानों में कीले ठोक दिये जाते थे। मातङ्ग-जातक में लिखा है कि एक वार क्षत्रिय और वैश्य की दो स्त्रियाँ प्रातःकाल कहीं बाहर जा रही थीं। रास्ते में उन्हें चाण्डाल के दर्शन हो गये जिसे उन्होंने अपशकुन समझा और घर जाकर प्रायश्चित किया एवं उन चाण्डालों की खूब दुर्गति की। मतलब यह कि समाज में ब्राह्मणों के अत्याचारों से त्राहि त्राहि मच गई थी। सब लोग अपनी अपनी स्वार्थ सिद्धि में लग गये थे। देश को ऐसे महापुरुष की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी जो शीघ्र ही कर्म्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर समाज के अत्याचारों को दूर करे।

समाज के इन अत्याचारों को दूर करने के निमित्त क्रम से भगवान महावीर और भगवान बुद्ध का अवतार हुआ। इन दोनों महात्माओं ने तत्कालीन धर्म के विरुद्ध समाज में क्रान्ति उत्पन्न की। वे जानते थे कि पूर्व रचित वर्णाश्रम-धर्म्म अब इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसका संशोधन होना अब असम्भव है; बल्कि इस व्यवस्था से तो उल्टे समाज की भारी हानि हो रही है। अतएव उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के स्थान पर समाज को साम्यवाद का सन्देशा दिया।

बौद्ध और जैन धर्म्म की इन भयङ्कर क्रान्तियों के पश्चात् समाज में पुनः शान्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं क्रान्तियों के फल स्वरूप हमें मौर्य्य और गुप्त काल के स्वर्णमय दृश्य इतिहास

में देखने को मिलते हैं। करीब चार पाँच शताब्दियों तक समाज में फिर उत्कृष्ट शान्ति नज़र आने लगी। लेकिन फिर समय ने पलटा खाया। बौद्ध धर्म सरीखे उत्कृष्ट धर्म में भी स्वार्थ का घुन घुस गया। और उसमें भी वही विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई जो प्राचीन हिन्दू धर्म में हो गई थी। बुद्ध धर्म के महायान और हीनयान नामक दो टुकड़े हो गये और जैन धर्म भी श्वेताम्बर और दिगम्बर दो विभागों में विभक्त हो गया। बौद्ध लोग इतर धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करने लगे। नैतिक बल भी क्रमशः क्षीण होने लग गया। अब तक तो देश बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित था, पर अब विदेशियों की दृष्टि भी इस रास्ते से भूली हुई सोने की चिड़िया पर पड़ी।

सबसे पहले सिकन्दर का आक्रमण हुआ। उसका पहला हमला राजा पौरस पर हुआ। हमारे नैतिक बल का इतना पतन हो गया था कि पोरस के पड़ोसी तक्षशिला प्रभृति के राजाओं ने पोरस के विरुद्ध सिकन्दर की सहायता की। सिकन्दर यूनानी था—सभ्य था, इसलिये उसकी विजय से देश को उतनी हानि न हुई। सिकन्दर के पश्चात् शक आये, उन्होंने देश को विजय किया। उसके पश्चात् ईश्वरीय महादण्ड हूण जाति का भयङ्कर आक्रमण देश ने सहन किया। मगर फिर भी यहाँ के लोगों के कानों में जूँ न रेंगी।

इधर तो हिन्दू समाज का इस प्रकार नैतिक पतन हो रहा था उधर अरब के मरुस्थल में एक भीषण क्रान्ति हुई। वहाँ की

अर्द्ध सभ्य जातियों में मुहम्मद साहब ने अवतीर्ण होकर एक नवजीवन का संचार कर दिया। ये जातियाँ बड़ी ही लड़ाकू और कट्टर थीं। क्रमशः भारतवर्ष की शस्यश्यामला भूमि पर भी इनकी दृष्टि का पतन हुआ। सबसे पहले मुहम्मद कासिम नामक एक युवक ने केवल बारह हज़ार सेना के साथ भारत-वर्ष पर आक्रमण किया। उसका मुक़ाबिला राजा दाहिर ने एक लाख सेना के साथ किया। पर मुहम्मद कासिम ने चतुराई के साथ राजा दाहिर की ध्वजा को गिरा दिया। ध्वजा के गिरते ही दाहिर की सारी सेना त्राहि २ करके भागने लगी। विजय लक्ष्मी सहज ही में मुहम्मद कासिम को मिल गई। बहुत सी सम्पत्ति के साथ उसने राजा दाहिर की दोनों लड़-कियों को पकड़ कर खलीफ़ा के पास भेज दिया। दाहिर की इस पराजय से साफ़ दृष्टिगोचर होता है कि उस समय देश का कितना अधिक नैतिक पतन हो गया था और उस समय की सैनिक पद्धति कितनी अधिक बिगड़ चुकी थी।

मुहम्मद कासिम के पश्चात् मुहम्मद गज़नवी की करीब १७ चढ़ाइयाँ इस देश पर हुईं। उसके पश्चात् मुहम्मद गौरी ने बारह आक्रमण किये। ये लोग छोटी छोटी सेनाओं के साथ चढ़ आते और देश के किसी एक भाग पर हमला कर उसे लूट लेते थे। भारत में बन्धुत्व की भावना तो रही ही न थी। पास पड़ोसी की मदद करना लोग जानते ही न थे। जयचन्द के समान देशद्रोही समाज में उत्पन्न हो गये थे। इन सब

कारणों से इन लोगों को विजय पर विजय मिलती गई। कुछ समय पश्चात् देश में मुगल साम्राज्य का उदय हुआ। बाबर इस राज्य का मूल संस्थापक था। इस साम्राज्य के उदय होने से हमारा नैतिक-जीवन और भी अधिक भ्रष्ट हो गया। वैवाहिक जीवन तो इन दिनों पूरी तरह ही भ्रष्ट हो चुका था। नई नई स्मृतियाँ बनाई जाने लगीं। स्थान स्थान पर देशद्रोही नज़र आने लगे। समाज में सङ्कीर्ण भावों का प्रवेश होने लगा। शिवाजी ने अवश्य देश की इस परिस्थिति के विरुद्ध, क्रान्ति खड़ी की और कितने ही अंशों में वह सफल भी हुई पर अन्त में मराठों की स्वार्थपरता के कारण वह भी नष्ट हो गई। देश का नैतिक बल बहुत ही गिर चुका था। मुसलमानों की शक्ति भी नैतिक बल की क्षीणता के कारण दिन प्रति दिन गिरती जा रही थी। धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय गगन में अँग्रेज़ों का उदय हुआ। इस जाति के प्रताप से देश का रहा सहा नैतिक बल भी भ्रष्ट हो गया। पहले यह तो गनीमत था कि लोग अपनी रक्षा करने के लिए अपने पास शस्त्र रख सकते थे जिससे वीरता के भाव उनमें लोप न होने पाते थे। पर अब तो वीरता का नामों निशान भी समाज में शेष नहीं है। बाहरी दृष्टि से तो समाज बारह सौ वर्ष से गुलाम था ही पर अब तो नैतिक दृष्टि से भी पूरा पूरा गुलाम हो गया।

कोई भी बाजू ऐसी शेष नहीं रह गई जिस पर हम कुछ अभिमान कर सकें। हम लोगों का वैवाहिक जीवन नष्ट हो

चुका है। हमारे देश के छोटे छोटे बच्चे जिनका बिलकुल विकास नहीं हुआ है इस भीषण वायुमण्डल में रह कर अपने चरित्र को खराब कर बैठते हैं। आज कल के इस भीषण वीर्य्य नाश को देख कर आत्मा काँप उठती है। देश के अच्छे अच्छे शरीफ़ कहलाने वाले लोग भी कलकत्ते के मछुए बाज़ार और बनारस की दालमण्डी में पाये जाते हैं। देश में प्रति सैकड़ा निन्नानवे मनुष्यों को-जिनमें छोटे छोटे बच्चे भी सम्मिलित हैं-स्वप्न दोष, प्रमेह, सुजाक, और गर्मी की बीमारियां सता रही हैं। छोटे छोटे लड़के और लड़कियाँ अप्राकृतिक उपायों से अपने शरीर के सत्त्व का नाश कर बैठते हैं। लोगों के मुख पर कान्ति नहीं है, शरीर में शक्ति नहीं है, गृह में पैसा नहीं है, आत्मा में बल नहीं है, गुलामी का अन्धकार उनके भयङ्कर मार्ग को और भी अधिक भयङ्कर बना रहा है। विधवाओं की गर्म आहें समाज पर कहर की वर्षा कर रही हैं। पांच पाँच वर्ष की सैकड़ों विधवाओं के क्रन्दन से हमारे गृह कोलाहलमय हो रहे हैं। कोई सुननेवाला नहीं है। माता-पिताओं के दोष से बचपन में विवाह हो जाने के कारण यदि कोई भाग्य की मारी विधवा हो जाती है तो वह जन्म की दुखियारी तो हो ही जाती है पर साथ में सास ससुर, घर के लोग उसको "डाइन" पति को खाने वाली आदि वाक्य बाणों से छेद कर उसके दारुण दुःख को और भी दारुण कर देते हैं। इधर बारह बारह वर्ष के बच्चों के गलों में सोलह सोलह वर्ष की स्त्रियों को बाँध देने

के दृश्य भी हमारे समाज में कम दृष्टिगोचर नहीं होते। जिसके फल स्वरूप समाज में व्यभिचार की भट्टी धाँय धाँय करके धधक रही है। हमारा दाम्पत्य जीवन घोर नर्क का नमूना हो रहा है। शायद ही कोई सौभाग्यशाली गृह ऐसा बचा होगा जिसके गृह में दाम्पत्य कलह की भयङ्कर अग्नि न धधक रही हो।

हम लोग युरोपियनों के दाम्पत्य जीवन की हँसी उड़ाते हैं, हम लोग मिस्ट्रीज़ ऑफ दी कोर्ट ऑफ लण्डन को पढ़ कर हँसते हैं पर हम अपने सामाजिक जीवन की ओर निगाह नहीं करते। यहाँ के सामाजिक जीवन के सच्चे इतिहास को यदि कोई विद्वान् लिखे तो उसे पढ़ कर संसार की आत्मा काँप उठेगी। अंग्रेजों का सामाजिक जीवन यद्यपि कई त्रुटियों से परिपूर्ण है फिर भी हमारे सामाजिक जीवन की अपेक्षा कई दर्जे अच्छा है। वहाँ के समाज में अत्याचारों की आग हमारी तरह नहीं धधकती है। हमारे समाज की तरह दुःख की धाराएं वहाँ नहीं बहती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी निगाह में उनके कई सामाजिक नियम दोष पूर्ण हो सकते हैं, पर जिन्हें वे लोग अच्छा समझते हैं उन्हें वे भली प्रकार पालन करते हैं, उनकी सन्ताने पुष्ट होती हैं, बलवान होती हैं, देश भक्त होती हैं। उस समाज में बीस बीस वर्ष की ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ मिल सकती हैं जब कि हमारे समाज में बारह बारह वर्ष की लड़कियाँ भी ब्रह्मचर्य्य से रहने में असमर्थ हो जाती हैं।

यह तो एक बाजू हुई। अब दूसरी बाजू को लीजिए। हम लोग देश-भक्ति का दम भरते हैं, हम लोग देश को आज़ाद करने का बीड़ा उठाते हैं। हम लोग जाति-सेवक बनने का दावा करते हैं पर फिर भी हम व्यक्तिगत स्वार्थ की भावनाओं को नहीं भूलते हैं। हम लोग अपने ही भाइयों के विरुद्ध कोर्टों में गवाहियाँ देते फिरते हैं। अपने ही भाइयों के प्रति झूँठे झूँठे दोष लगा कर उनको फँसाने की कोशिश करते हैं। इससे भी बढ़ कर भयङ्कर बातें वर्तमान कालीन असहयोग आन्दोलन ने दिखलाई हैं। असहयोग आन्दोलन ने हमारा वास्तविक रूप बतला दिया है।

असहयोग आन्दोलन की वास्तविक स्थिति असल में देखा जाय तो आत्मिक विकास और नैतिक बल पर ही रक्खी गई थी। राजनैतिक दृष्टि से यह आन्दोलन प्रारम्भ अवश्य किया गया था पर असल में समाज का नैतिक-विकास करने के निमित्त ही इसकी उत्पत्ति हुई थी।

आन्दोलन के प्रभाव से प्रभावान्वित होकर देश के लाखों नवयुवक उसमें सम्मिलित हुए लेकिन कहते दुःख होता है कि, इनमें से अधिकांश नवयुवक प्रायः निज स्वार्थ साधन के ही निमित्त सम्मिलित हुए थे। उन्हीं वकीलों ने वकालत छोड़ी थी जिनकी वकालत नहीं चलती थी। इसके अतिरिक्त खादी धारी देश-भक्तों ने, कांग्रेस कमेटियों के मन्त्रियों ने, तिलक स्वराज्यफण्ड के पैसों को—उन पैसों को जो देश के गरीबों की

कठिन कमाई के भीतर से मिले थे किस बुरी तरह उड़ाया है, उसे कहते हुए भी शर्म आती है।

हमने कई गेरुए वस्त्रधारी सन्यासियों और खद्दरधारी देशभक्तों को तिलक स्वराज्यफण्ड के पैसों से फ़र्स्ट क्लास में सैर करते हुए और उपवास के बहाने छः रुपये रोज का फलाहार करते देखा है। अल्पांश नहीं बल्कि अधिकांश असहयोगियों का यह हाल देखा है।

जब तक देश में इस प्रकार के दृश्य दृष्टिगोचर होते रहते हैं, जब तक किसी क्रान्ति में इस प्रकार के लोग सम्मिलित रहते हैं तब तक उसके सफल होने की कभी आशा नहीं की जा सकती। जब तक व्यक्तियों का नैतिक उत्थान नहीं होता, जब तक हम लोगों का मानसिक विकास नहीं होता जब तक हम रग रग से त्यागी और देशभक्त नहीं हो जाते, तब तक खादी के पवित्र वस्त्रों से अपने बदन को ढँकने से कुछ लाभ नहीं, तब तक महात्मा गान्धी का नाम लेकर स्वराज्य स्वराज्य चिल्लाने से भी कुछ लाभ नहीं, और तब तक इस नकली आडम्बर के द्वारा लोगों के आगे अपने को देशभक्त साबित करने और उनको धोखा देने से भी कुछ लाभ नहीं।

यह स्वभाव सिद्ध है कि जब तक सामाजिक व्यक्ति नैतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर लेते, जब तक वे विलास और इच्छाओं को दमन नहीं कर लेते, और जब तक वे पक्के सहन-

शील, अनुपमसाहसी और सच्चे वीर नहीं बन जाते तब तक केवल वाह्याडम्बरों के द्वारा आज़ादी प्राप्त नहीं कर सकते।

आज़ादी खून की प्यासी है मगर हम खून का भोग बिना नैतिक बल के दे नहीं सकते। हम लोग स्वाधीनता के लिए पाँच रुपये की नौकरी का भी त्याग करने को तय्यार नहीं, हम लोग स्वाधीनता की वेदी पर अपने छोटे से छोटे स्वार्थ का भी बलिदान नहीं दे सकते, ऐसी हालत में केवल खादी और वन्देमातरम् की बुलन्द आवाज़ें हमें आज़ादी नहीं दिला सकतीं।

सुखी होने के लिए, स्वाधीन होने के लिए साहस की जरूरत है, स्वावलम्बन की ज़रूरत है, त्याग की जरूरत है और ज़रूरत है सच्चे नैतिक बल की। बिना इन बातों के स्वाधीनता की उम्मीद करना आकाश कुसुम के समान है।

सबसे पूर्व हमारा कर्तव्य समाज के उस भयङ्कर वायुमण्डल को शुद्ध करने का होना चाहिए जिसके फेर में पड़ कर हमारे देश के हजारों, लाखों, करोड़ों, नवयुवक अपने स्वर्ण के समान चरित्र को बर्बाद कर डालते हैं। जिसके फेर में पड़ कर वे अपनी उस दिव्य शक्ति को नष्ट कर डालते हैं, जो उन्हें प्रकृति के द्वारा प्राप्त हुई है और जिसके द्वारा वे भविष्य में देश और समाज की भारी सेवा कर सकते हैं। समाज के भयङ्कर अत्याचारों से हमारे देश में जो त्राहि त्राहि मच रही है, उतनी राजनैतिक गुलामी से भी नहीं।

प्रायः ... । तक राज-
नैतिक स्वाधीनता ... ाता तब तक सामाजिक क्रान्ति होना असम्भव है। लेकिन मैं इस सिद्धान्त के खिलाफ़ हूँ। मेरे ख़याल से तो वहाँ तक कोई समाज राजनैतिक स्वतन्त्रता को भोग ही नहीं सकता जब तक कि उसकी सामाजिक व्यवस्था सुधर जाय। हमारी सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाने ही से तो हम गुलाम हुए थे। और बिना उसके सुधारे हम आज़ाद हो भी नहीं सकते। यदि कुछ समय के लिए हुए भी तो वह आज़ादी अधिक समय तक टिक नहीं सकती। क्योंकि आज़ादी की रक्षा करना भी आसान नहीं है। उसके लिए भी तो पर्याप्त समाजिक बल की आवश्यकता है, उस बल को प्राप्त करना ही हमारा सबसे पहला काम है।

॥ समाप्त ॥

शुद्धि-पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१	देनेवाले	देनेवाले और
१७	२२	सामाजिक	समाज के
२१	(२१)	अथवा	और
२४	६	चिमप्रसादन	चित्तप्रसादन
२४	१६	दूसरों	दूसरे
३५	४	ब्रह्मचर्य्य	ब्रह्मचर्य्यस्थिर
५०	११	यौवनरात्यपद	यौवराज्यपद
५६	१०	आजकल	
५८	६	तहतड़ा	तहलका
५६	१४	सभ्यता	विवाह सभ्यता
७४	२	देभक्ति	देशभक्ति
,,	१०	असयुक्त	असफल
,,	१२	केवल	तो केवल
,,	१४	हाथसेसा	हाथसेसारेदेश
,,	१८	आत्मविशसव	आत्मविश्वास
७८	२०	शक्तियां	शक्तियों
८६	६	थीं	थीं
६३	१६	यशके	
६४	१	नहीं	
६६	१७	ज्ञान	क्षीन
६६	१२	आरम्भ	आरम्भमें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	२२	पैसा	हायपैसा
१०१	१८	पर	फिर
११६	८	प्रशस्त	परास्त
११८	२	विश्व	विघ्न
,,	४	परिक्षाके	परिक्षाकी
१२१	१४	कि	?
,,	१८	कठिनाइयों	कठिनाइयां
१३०	६	स्मि	स्त्री
१३३	१३	जो	
१३७	२०	विन्दु	रक्तविन्दु
१३६	१६	दहाताओं	सम्वाददाताओं
१४०	६	आदर्शमय	आदर्शरूप
,,	१५	परिणाम	गौण परिणाम
१४२	२१	जातौ	जाता
१४६	१३	कि	—
१५० ..	२	यक्षा	यक्षो
१६१	२०	बङ्किमबाबू	बङ्किमबाबू
१६५	२	जीवन	जीवन के
१६५	१६	या	था
१६३	२०	अंग्रेजों	अग्रजों
१६७	१२	शूद्धों	शूद्रों
,,	१४	न	न थी